कुछ सामान्य रोग

लोकोपयोगी विज्ञान

कुछ सामान्य रोग

अनिल अग्रवाल

अनुवाद

चन्द्रभान शर्मा

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

दीदी रेवा वासुदेव

को

उनके निश्छल स्नेहानुराग के लिए

विषय-सूची

आभार

इस पुस्तक के लेखन को प्रोत्साहित करने के लिए सबसे पहले मैं डा. जी.पी.फोंडके, प्रमुख संपादक, साइंस रिर्पोटर का साधुवाद करना चाहूंगा। यही नहीं, उन्होंने अपनी अति पाठनीय पुस्तक 'लाइफः फ्राम सैल टू सैल' मुझे पढ़ने को दी ताकि मैं उसी प्रकार का प्रयास करूं। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस के श्री राजेन्द्र सिन्हा तथा बटरवर्थ्स के श्री रविन्द्र सक्सेना ने पुस्तक लेखन के प्रत्येक चरण में मुझे प्रोत्साहन दिया तथा इस विधा की सूक्ष्म त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। ऐडिनबर्ग से मेरी भांजी, कविता, अपनों पत्रों में लगातार लिखती रही कि मैं एक महान लेखक हूं। हालांकि शुरू-शुरू में मुझमें विश्वास की कमी रही, परंतु फिर मैंने इस धारणा में विश्वास करने के भ्रमजाल में खुद को फंसने दिया। मैं इस लगातार प्रोत्साहन के लिए उसे धन्यवाद देता हूं जिसके बिना यह पुस्तक इस बेहतर रूप में नहीं आ सकती थी। मौलाना आज़ाद मेडिकल कालेज पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री हरिन्दर सिंह ने संबंधित पुस्तकें तथा अन्य सामग्री की फोटो-कापियां सुलभ कराने में सहायता की। मैं डा. श्यामसिंह शशि, निदेशक, प्रकाशन विभाग का भी विशेष उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने अपने जीवंत वार्तालापों से मुझे प्रभावित तथा उत्प्रेरित किया। किसी न किसी रूप में मदद करने वाले मित्रों और सहयोगियों में पंजाब कृषि विश्वविद्यालय के डा. संजीव गुप्ता, दयाल सिंह कालेज के भूतपूर्व प्रोफेसर एस.पी.गुप्ता, नेशनल बुक ट्रस्ट की श्रीमती मंजु गुप्ता, मेरा भाई प्रदीप तथा पत्नी अपर्णा हैं। और हां, मेरे आठ वर्षीय पुत्र तरुण ने भी इस दौरान अजीब-अजीब प्रश्न करके मेरा ज्यादा समय नर हीं किया।

अप्रैल 1992

—अनिल अग्रवाल

भूमिका

'जंगल के भेड़िये से घर का कुत्ता अधिक खतरनाक होता है', यह बात जितनी सटीक सामान्य रोगों के मामले में है उतनी संभवतया कहीं और नहीं। मधुमेह और हृदयशूल जैसे रोगों की स्थिति में लोग जितनी जल्दी और बार-बार चिकित्सकों के चक्कर लगाते हैं, उतने चिंतित वे परिचित रोगों से नहीं होते। सिर दर्द का ही उदाहरण ले लीजिए। संभवतया हम सब किसी अधेड़ आयु की महिला को जानते होंगे जो आये दिन सिर दर्द से पीड़ित रहती है और उससे छुटकारा पाने के लिए एस्पिरिन की गोली खाकर अपना इलाज कर लेती है। उसका यह तरीका दो-चार बार के लिए तो ठीक है, पर लगातार ऐसा करने का मतलब है कि वह शरीर में मौजूद किसी गंभीर रोग की 'पुकार' को अनसुना कर रही है। इसी प्रकार, कई अन्य साधारण रोग हैं जिनकी हम परवाह नहीं करते जबकि वे किसी गंभीर रोग की पूर्व-सूचना देते हैं।

इस दृष्टि से सामान्य रोगों की थोड़ी बहुत जानकारी होना सबके लिए अत्यंत आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में कुछ सामान्य रोगों की रोचक जानकारी देकर इस लक्ष्य की पूर्ति करने का प्रयास किया गया है। इन रोगों के बारे में जानने का एक और कारण भी है। शरीर और इसकी साधारण बीमारियों का ज्ञान होना वैसा ही है जैसा अपने वाहन और उसमें होने वाली समस्याओं के बारे में जानकारी होना। यह सही है कि हम स्वयं अपने वाहन को ठीक नहीं कर सकते, परंतु इसकी कार्यप्रणाली तथा साधारण त्रुटियों का ज्ञान होने से हम उसका बुद्धिमत्ता पूर्वक उपयोग कर बार-बार होने वाली परेशानियों से काफी हद तक बच सकते हैं। साथ ही, इसमें खराबी आने की स्थिति में हम न केवल मिस्त्री को सही समस्या बता सकते हैं, बल्कि उसके द्वारा उल्लू बनाये जाने से भी बच सकते हैं।

यही बात शरीर और इसकी साधारण बीमारियों के बारे में जानने पर लागू होती है। ये रोग आये दिन हमें जकड़ लेते हैं। इनके बारे में जानने के बाद हम जल्दी इनके शिकार नहीं हो सकते, और यदि किसी कारणवश हो भी गये तो अपने पारिवारिक चिकित्सक से सार्थक संपर्क कर सकते हैं। इस प्रकार चिकित्सक को उपयुक्त जानकारी देकर हम स्वयं अपनी सहायता करते हैं।

आशा है, यह पुस्तक न केवल हमें अपने शरीर के बारे में पर्याप्त जानकारी देगी अपितु स्वास्थ्य और रुग्णावस्था की परिस्थितियों में शरीर की क्या भूमिका होती है यह भी बतायेगी। इस जानकारी देने के साथ ही यदि यह पाठक को रुचिकर भी लगती है तो इसका उद्देश्य पूरा हो जाता है।
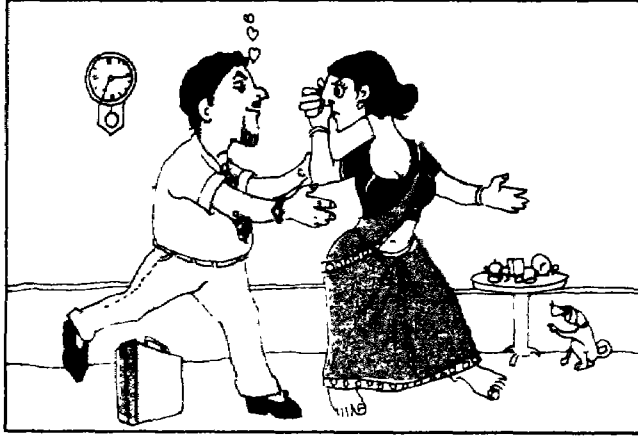
"दूर रहिए! आपके छूने से मुझे छींकें आने लगती हैं।"

एलर्जी

आपने अक्सर लोगों को कहते सुना होगा "मुझे अपने बॉस से एलर्जी है" या फिर ''मुझे अपनी सास से एलर्जी है'' । व्यापक अर्थो में 'एलर्जी' शब्द 'नापसन्द' का पर्यायवाची है। चिकित्सकों की भाषा में 'एलर्जी' शब्द भले ही निहित भाव का पूर्ण प्रतीक न हो, पर है इसी अर्थ का उद्‌बोधक। सामान्यतया किसी व्यक्ति पर साधारण पदार्थो, जैसे परागकण, पशुओं के बाल, कपड़े धोने का पाउडर, अंडों आदि का कोई अप्रिय या विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी, लगभग 20 प्रतिशत (प्रति पांच व्यक्तियों में से एक) व्यक्ति इन साधारण पदार्थों से असामान्य रूप से प्रभावित होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को परागकणों या पशुओं के बालों के संपर्क में आते ही सांस लेने में अत्यधिक कठिनाई होने लगती है या फिर आभूषणों, कपड़े धोने के पाउडर जैसी वस्तुओं के स्पर्श से उनकी त्वचा पर खुजलाहट भरे दाने उभर आते है। दूसरे शब्दों में, उनके शरीर इन पदार्थों को पसंद नहीं करते और उनके संपर्क में आते ही तीव्र प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हैं। सन् 1906 में क्लीमेन्स वॉन पिरके (1874-1929) नामक आस्ट्रिया के एक बाल-विशेषज्ञ ने इन परिस्थितियों को 'एलर्जी' नाम दिया। इस शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के 'एलो' अर्थात्

'भिन्न' और 'अर्गोन' अर्थात् 'कार्य' शब्द को मिलाकर हुई है। अतः एलर्जी का शाब्दिक अर्थ हुआ 'भिन्न कार्य' या, यूं कहिए कि एलर्जी वह है जिसमें सामान्य से हट कर कार्य भिन्नता हो। वे पदार्थ (परागकण या कपड़े धोने के पाउडर में मौजूद रसायन) जो इस प्रकार की असामान्य प्रतिक्रियाओं को जन्म देते हैं, एलर्जन कहलाते हैं। अभी तक यह भली-भांति स्पष्ट नहीं है कि कुछ व्यक्ति इन सामान्य वस्तुओं से आश्चर्यजनक रूप में क्यों प्रभावित हो जाते हैं। इसके बारे में कुछ रोचक धारणाएं सामने आयी हैं, जिनका हम आगे वर्णन करेंगे।

एलर्जनों की संख्या करोड़ों में है। वास्तव में कहा तो यह जाता है कि इस खुले आसमान के नीचे पाई जाने वाली हर वस्तु एलर्जी पैदा कर सकती है। बहरहाल, विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थ (पनीर, गाय का दूध, आटा और अंडे), धूल, परागकण, औषधियां तथा कुछ रासायनिक पदार्थ सामान्य एलर्जन हैं। कोई भी एलर्जन तभी असामान्य प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है जब उसका सीधा सम्पर्क किसी संवदेनशील, एलर्जिक व्यक्ति के शरीर से होता है। ऐसा चार प्रकार से होता है– पराग के रूप में इसे सूंघ लिया जाये, गाय के दूध की तरह उसे सेवन कर लिया जाये, टीके के माध्यम से औषधि को शरीर में पहुंचा दिया जाये, या फिर यह सौंदर्य-प्रसाधन या रंजक के रूप में त्वचा से सम्पर्क कर ले। हर स्थिति में प्रतिक्रिया अलग हो सकती हैं। सूंघे जाने वाले एलर्जन से बहुदा सांस लेने में असुविधा होती है। पेट में जाने वाले एलर्जन से मतली, उल्टी, पेट खराब होने व दस्त लगने जैसी प्रतिक्रिया होती है, और स्पर्श वाले एलर्जन से त्वचा पर पित्तिका, खुजली तथा फफोले उभर आते हैं। जहां तक टीके वाले एलर्जन का प्रश्न है, उससे इनमें से कोई सा भी लक्षण उभर सकता है।

यद्यपि एलर्जी शब्द का प्रादुर्भाव सन् 1906 में हुआ, इसके लक्षणों की जानकारी प्राचीन काल में भी थी। ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व यूनानी चिकित्सक हिप्पोक्रेट्स (460 ई.पू-370ई. पू.) ने एक ऐसी स्पष्ट विसंगति का वर्णन किया है जिसमें उन खाद्य पदार्थों को, जो अधिकतर व्यक्तियों के लिए स्वास्थ्यपरक व पोषक थे, खाकर कुछ लोग बीमार हो जाते थे। पनीर ऐसे भोजन में से एक था। इस घटना का स्पष्टीकरण यह कहकर किया गया कि पनीर में एक पदार्थ होता है जो कुछ व्यक्तियों में विष का कार्य करता है। इस बारे में कुछ नहीं बताया गया कि ऐसा क्यों होता है और संबंधित विष कौन सा है। रोमन दार्शनिक और कवि ल्यूक्रेटियस (95 ई.पू.-55 ई.पू.) ने अपनी प्रसिद्ध विज्ञान कविता 'आन दी नेचर आफ थिंग्स' में कहा कि जो कुछ लोगों के लिए पथ्य है, वह दूसरों के लिए कुपथ्य है। चिकित्सकों के सरताज गेलेन (131-201ई.) को भी कुछ पौधों द्वारा जनित एलर्जी प्रतिक्रियाओं का पता चला, परंतु उसने इस बारे में कुछ कहा नहीं।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक बाह्य कारकों के प्रति इन प्रतिक्रियाओं ने वैज्ञानिकों का ध्यान अपनी ओर खींचना आरंभ किया। 'रोज़ फीवर' पर कई रपटें प्रकाशित हुईं। वह आज का परागज ज्वर (हे फीवर) ही था जो फूलों के पराग से पैदा होता है। इसके प्रमुख लक्षणों

में दुखती, खुजलाहट भरी आंखें, वहती या वंद नाक और देर तक आने वाली छीकें हैं। इतालवी शल्य-चिकित्सक लियोनार्दो बोतालो (1519-88)—जिसके रोगियों में संयोग से चार्ल्स नवम और केथरिन दे मेदिसी जैसी महान हस्तियां थीं—के एक रोगी ने अनुभव किया कि गुलाव के फूलों से उसे छींकें, नाक की खुजलाहट तथा सिर दर्द पैदा हो जाता था। बोतालो ने सन् 1565 में इन लक्षणों को सावधानी पूर्वक परखा और इस प्रकार वह एलर्जिक व्याधियों में से एक, परागज ज्वर का सही विवरण प्रस्तुत करने वाला इतिहास का पहला व्यक्ति वन गया। एक अन्य इतालवी डाक्टर पीत्रो एंद्रिया मेतियोली (1501-1577) का एक रोगी बिल्लियों के प्रति इतना संवदेनशील था कि यदि उसे ऐसे कमरे में भेज दिया जाता, जहां बिल्ली हो तो वह बीमार हो जाता था—चाहे बिल्ली कहीं छिपकर ही बैठी हो।

एलर्जी के कारणों का पता लगाने के लिए बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक वहुत ही रोचक व प्रसिद्ध परीक्षण किया गया। इसे 'प्रॉसनित्ज़-कूस्तनर प्रतिक्रिया' कहते हैं। स्त्री-रोग एवं प्रसूति-विज्ञानी जर्मन हेन्ज कूस्तनर (1897-1931) को पकाई हुई मछली से एलर्जी थी। वह खुजली, सूजन, खांसी, छींक व उल्टी से ग्रसित हुए विना पकी मछली नहीं खा सकता था। इन लक्षणों को सामान्य होने में लगभग 12 घंटे लगते थे। जर्मन स्वास्थ्य एवं सूक्ष्मजीवविज्ञानी कार्ल विलहेम प्रॉसनित्ज़ (1861-1933) के अनुसार एलर्जिक व्यक्तियों के रक्त में एक पदार्थ होता हैं जिसे उसने 'रिएजिन', (रिएजेंट की तर्ज पर) नाम दिया। यह पदार्थ एलर्जन के संयोग से अप्रिय और अजीव लक्षणों को जन्म देता है। सामान्य व्यक्तियों के रक्त में यह पदार्थ नहीं होता।

प्रॉसनित्ज़ का तर्क था कि यदि वह कूस्तनर के शरीर से कुछ सीरम (रक्त का पानी वाला भाग) अपने शरीर में प्रवेश करा ले तो वह भी पकी मछली के प्रति, कम से कम उतने समय तक, जब तक रिएजिन उसके शरीर में रहेगा, एलर्जिक हो जायेगा। उसने ऐसा ही किया और अगले दिन मछली का कुछ सत्व अपनी बांह में उसी जगह प्रवेश कराया जहां कूस्तनर का सीरम प्रवेश किया गया था। लोगों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसमें एलर्जी के गंभीर लक्षण उभर आये थे। इस प्रकार रिएजिन सिद्धांत सिद्ध हो गया। ये ही रिएजिन 40 वर्ष वाद इम्यूनोग्लोविन-E प्रतिपिंडों के रूप में सामने आयीं।

पहले हम यह देखें कि प्रतिपिंड क्या होते हैं (पाठक विषयांतर के लिए क्षमा करें)। जब भी कोई व्राह्य प्रोटीन शरीर में प्रवेश पा जाता है तो शरीर उसे शत्रु मान बैठता है और उसके विरुद्ध रसायनों का उत्पादन करने लगता है। वे सभी पदार्थ जो शरीर को रसायनों के निर्माण के लिए वाध्य करते हैं प्रतिजन (एंटीजन-यूनानी शब्द, जिसका अर्थ है 'मैं उत्पन्न करता हूं') कहलाते हैं। अतः सभी एलर्जन वास्तव में प्रतिजन हैं। शरीर जिन रसायनों को इन प्रतिजनों के विरुद्ध उत्पन्न करता है वे प्रतिपिंड (एंटीवाडीज-यूनानी शब्द, जिसका अर्थ है प्रतिजन-विरोधी पिंड) कहलाते हैं। प्रतिपिंड प्रोटीन अणु होते हैं और रक्त में मौजूद रहते हैं।

मनुष्य के रक्त के प्रति 100 घन.सें.मी. में लगभग सात ग्राम प्रोटीन होता है जिनमें तीन मुख्य भाग हैं। इनमें सबसे बड़ा भाग, लगभग 60 प्रतिशत भाग, एल्ब्यूमिन का है। 35 प्रतिशत भाग ग्लोबुलिन (गोलाकार आकृति वाले) तथा शेष 5 प्रतिशत भाग फाइब्रिनोजन, जो रक्त जमाने में सहायक है, का होता है। सभी प्रतिपिंड रक्त के ग्लोबुलिन भाग से संबंधित हैं और चूंकि ये शरीर की रोगावरोधी (इम्यून) प्रक्रियाओं से भी जुड़े होते हैं, इन्हें इम्यूनोग्लोबुलिन कहा जाता है। जो ग्लोबुलिन रोगावरोधी क्रियाओं से संबंध नही रखते वे अ-रोगावरोधी ग्लोबुलिन कहलाते हैं और उनका कार्य रक्त में विभिन्न रसायनों का स्थानांतरण है। रचना के आधार पर इम्यूनोग्लोबुलिनों की मुख्य पांच किस्मों को पहचाना गया है तथा उनका पूरा नाम लेने की जगह अंग्रेजी के वर्णाक्षरों से उन्हें संबोधित किया जाता है। ये मुख्य पांच इम्यूनोग्लोबुलिन हैं– आइजी-एम (आइजी का प्रयोग इम्यूनोग्लोबुलिन के लिए है), आइजी-जी, आइजी-ए, आइजी-इ तथा आइजी-डी। वास्तव में ये आइजी-इ हैं जो एलर्जिक प्रतिक्रिया के कारक हैं और ये वही 'रिएजिन' हैं जिनकी चर्चा प्रॉसनित्ज़ ने की थी।

सभी बेक्टीरिया, विषाणु तथा अन्य रोगोत्पादक सूक्ष्म-जीवाणुओं की रचना प्रोटीनमय होती है। शरीर का रोगावरोधी तंत्र इन भयानक प्रोटीनों को अविलंब पहचान लेता है और उनके विरुद्ध प्रतिपिंड तैयार करने लगता है। सभी प्रतिपिंड सभी प्रतिजनों से नहीं लड़ सकते। होता यह है कि कोई विशेष प्रतिपिंड किसी विशेष प्रतिजन से ही लड़ सकता है। यह ऐसा ही है जैसे कोई एक चाबी अपने ही ताले को खोल सकती है, अन्य को नहीं। वास्तव में, यह एक विडंबना है कि बेक्टीरिया और विषाणुओं से शरीर की रक्षा करने वाला यह व्यापक तंत्र अपने रास्ते से भटककर एलर्जी-जनित कष्टदायी लक्षणों को जन्म देता हैं। लगता है किन्हीं जटिल प्रक्रमों की मदद से, जो अभी वैज्ञानिकों को पूरी तरह स्पष्ट नहीं हैं, किसी स्वस्थ व्यक्ति की सामान्य रोगावरोधी प्रणाली हानिरहित प्रोटीन, जैसे भोजन के प्रोटीन, तथा हानिकारक ब्राह्य प्रोटीन, जैसे विषाणु, के अंतर को स्पष्ट रूप से पहचान लेती है। परंतु एलर्जी के रोगी व्यक्ति की रोगावरोधी व्यवस्था ऐसा नहीं कर पाती। वह किसी भी हानिरहित ब्राह्य प्रोटीन को हानिकारक समझकर प्रतिपिंड बनाना आरंभ कर देती है। यह ऐसा ही है जैसे मक्खी के शिकार के लिए हाथी मारने वाली राइफल उपयोग की जाये। इन हानिरहित प्रोटीनों के लिए निर्मित प्रतिपिंड आइजी-इ वर्ग के इम्यूनोग्लोबुलिन होते हैं जो विशेष प्रकार की कोशिकाओं, जिन्हें मास्ट कोशिकाएं कहते हैं, की सतह पर उपस्थित रहते हैं। ये कोशिकाएं त्वचा, भोजन व श्वास में बहुतायत में पायी जाती हैं। इनमें कई तरह के रासायनिक पदार्थ होते हैं जिनमें हिस्टामीन प्रमुख है। जब कभी कोई अहानिकारक प्रोटीन या एलर्जन, जैसे परागकण, शरीर में प्रवेश करता है तो वह मास्ट कोशिकाओं तक पहुंचता है जिनकी सतह पर इस एलर्जन के विरोधी प्रतिपिंड पहले से ही मौजूद हैं। मास्ट कोशिकाओं की सतह पर इन दोनों में भीषण संघर्ष होता है, कोशिकाएं टूट जाती हैं और उनके अंदर का रासायनिक पदार्थ, हिस्टामीन मुक्त हो जाता है। थोड़ी मात्रा

में शरीर के लिए लाभदायक इस हिस्टामीन के एकाएक काफी मात्रा में विमोचित होने से उपरोक्त वर्णित एलर्जिक प्रतिक्रियाएं प्रकट हो जाती हैं।

शरीर की रोगावरोधी प्रणाली की समानता किसी देश की सुरक्षा सेनाओं से की जा सकती है। कोई भी चतुर सेना केवल संदिग्ध मन्तव्य से देश पर हमला करने वाले शत्रु पर ही प्रहार करेगी। परंतु, मूर्ख व आवश्यकता से अधिक जोश वाली सेना देश की सीमाओं में अनजाने घुस आने वाले हानिरहित जन्तुओं, जैसे खरगोशों को भी बाहर खदेड़ने में अपनी शक्ति नष्ट कर सकती है। इतना ही नहीं, वह इन हानिरहित जंतुओं को भगाने की प्रक्रिया में अपनी भूमि की वनसंपदा को रौंद भी सकती है। ठीक ही कहा है, यदि रोगावरोधी प्रक्रिया शरीर की बुद्धिमत्ता है तो एलर्जी शरीर की मूर्खता है।

दमा और परागज ज्वर सूंघे जाने वाले अलर्जनों से उत्पन्न होने वाली दो प्रमुख एलर्जी हैं। हम परागज ज्वर के बारे में पहले ही बता चुके हैं। दमा रोग (एस्थमा-यूनानी शब्द, जिसका अर्थ है हांफना या सांस फूलना) में परागकण, जानवरों के बाल या धूल-चिंचड़ी के श्वास के साथ अंदर जाने से सांस लेने मे कठिनाई होने लगती है। धूल-चिंचड़ी आंखों को न दिखाई देने वाला एक छोटा सा साधारण घरेलू एलर्जन है जो बिस्तरों, पर्दों और गलीचों में छिपा रहता है। इसीलिए धोने से पहले जब पर्दों या गद्दों को तेजी से झाड़ा जाता है तो संवेदनशील व्यक्ति को दमे का रोग पड़ जाता है।

भोजन की एलर्जी खाने के साथ जाने वाले एलर्जनो के कारण होती है। यह किसी भी भोजन से हो सकती है परंतु अधिकतर दूध, आटा, अंडे व स्ट्रॉबेरीज, शेलफिश, गिरीदार फल तथा भोजन में मिलाये जाने वाले कुछ पदार्थों से होती है। इस एलर्जी में मतली, उल्टी तथा अतिसार के अलावा जीभ और होंठों में सूजन भी हो सकती है। यदि एलर्जन रक्त में पहुंच जाये तो त्वचा पर एक्ज़ीमा की तरह चकत्ते हो सकते हैं।

संस्पर्शी एलर्जनों द्वारा जो एलर्जी होती हैं, उनमें संस्पर्शी त्वचाशोथ (कांटेक्ट डर्मेटाइटिस) या त्वचा की सूजन और हाइव्ज़ अथवा पित्ती (अर्टिकेरिया) मुख्य हैं। संस्पर्शी त्वचाशोथ एलर्जी आभूषणों या धोने के पाउडर में उपस्थित रसायनों के संपर्क से होती है। इसमें त्वचा पर खुजलाहट भरे फफोले हो जाते हैं। हाइव्ज़ कुछ पौधों के संसर्ग या ठंडे-गर्म पानी के उपयोग से होती है, जिसमें लाल, खुजली भरी सूजन आ जाती है।

एलर्जी का एक सुगम उपचार है एलर्जन से बचना, परंतु यह पहचान करना हमेशा सरल नहीं होता कि कौन से पदार्थ से ये लक्षण उभरते हैं। हमारे चारों ओर अनेकों प्रकार के पदार्थ हैं और न जाने किस से एलर्जी हो जाये। फूलों की असंख्य किस्में हैं। उनके पराग से होने वाली एलर्जी (कभी-कभी भोजन की एलर्जी भी) को जानने के लिए 'प्रिक टेस्ट' नामक विधि का प्रयोग किया जाता है। इस क्रिया में चिकित्सक बांह में एक सूई चुभोता है और फिर उस स्थान पर किसी घोल की बूंद टपकाता है। इस घोल में किसी विशेष एलर्जन की

थोड़ी सी मात्रा होती है। किसी एक सत्र में अलग-अलग 40 बार सूई चुभाकर 40 एलर्जनों की जांच बिना किसी कष्ट के की जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति इनमें से किसी एक के प्रति एलर्जिक है तो लगभग 15 मिनट में सूई चुभे स्थान पर एक गोल, लाल चकत्ता उभर आयेगा।

भोजन के साथ गये एलर्जनों की पहचान के लिए छंटी हुई खुराक (एलीमिनेशन डाइट) का उपयोग किया जाता है। यदि इस खुराक के कुछ दिनों के सेवन से रोगी में सुधार होता है तो भोजन में से हटाया गया भाग ही एलर्जी का कारण है। चूंकि इस जांच में अधिक समय लगता है, अतः कुछ चिकित्सक उत्तेजना परीक्षण का प्रयोग करते हैं। इस क्रिया में विभिन्न भोजनों के हल्के घोल को जीभ के नीचे डाला जाता है और देखा जाता है कि किस घोल से रोगी के होंठों और जीभ पर सूजन आती है।

एलर्जन की पहचान होने पर उससे बचना सबसे हितकर है। रोगी को किसी विशेष एलर्जन के प्रति संवेदनरहित करने के लिए चिकित्सक उसी एलर्जन की थोड़ी-थोड़ी मात्रा बार-बार देते हैं। इसका प्रयोजन शरीर में एक प्रतिरोधी प्रतिपिंड के निर्माण को बढ़ावा देना है। प्रतिरोधी प्रतिपिंड रक्त में एलर्जन को पकड़कर उसे क्षीण और बेअसर बना देता है। इसके फलस्वरूप एलर्जन को मास्ट कोशिकाओं तक जाकर विस्फोटक प्रतिक्रिया करने का मौका नहीं मिल पाता। कुछ औषधियां भी एलर्जी की रोकथाम में काम आती हैं। जैसा कि बताया जा चुका है हिस्टामीन एलर्जी के लिए उत्तरदायी है, अतः इसे नष्ट करने वाली औषधियां अर्थात् एंटीहिस्टामीन बड़ी लाभदायक हैं। दूसरा उपाय यह है कि मास्ट कोशिकाओं से हिस्टामीन निकलने ही न दिया जाये। सोडियम क्रोमोग्लाइकेट ('इन्टाल' और 'इफिराल' नाम से उपलब्ध) से यह संभव है, परंतु यह औषधि हिस्टामीन विमोचित होने से पहले लेने पर ही प्रभावी है। कोर्टिकोस्टेरायड नामक विशिष्ट औषधियां एलर्जी में बड़ी लाभकारी हैं। श्वास नलिकाओं में फैलाव लाने वाली औषधियां दमे के दौरों से छुटकारा दिलाती हैं।

हमने प्रारंभ में कुछ व्यक्तियों के दूसरे व्यक्तियों के प्रति एलर्जिक होने का जिक्र किया था। कुछ समय पूर्व एक वास्तविक मामला प्रकाश में आया था जिसमें एक महिला को अपने पति से एलर्जी हो गयी थी। काम से घर आने पर ज्योंही वह अपनी पत्नी को बांहों में लेता, पत्नी की नाक में सुरसराहट होती, छींकें आतीं और अंत में उसे सांस लेने में कठिनाई होने लगती। जब मामला बढ़ा तो पता लगा कि उसके पति ने शौक के लिए घुड़सवारी शुरू कर दी थी। पति के कपड़ों में लगी घोड़े की रूसी पत्नी के रोमांस रहित व्यवहार का कारण थी। घुड़सवारी को गोल्फ में बदलते ही सब कुछ ठीक हो गया।

"पीठ दर्द ! इसका कारण आपके ऊंची एड़ी के सेंडिल हैं।"

पीठ दर्द

अपनी लंबाकार शरीर रचना की कीमत हमें पीठ दर्द के रूप में चुकानी पड़ती है। जहां केवल 20 प्रतिशत व्यक्ति एलर्जी जनित रोगों से पीड़ित हैं, वहीं 90 प्रतिशत से अधिक व्यक्तियों को अपने जीवन में कभी न कभी पीठ दर्द का सामना करना पड़ता है। वास्तव में, हमारा शरीर सीधी कमर और पैरों पर खड़ा होने के लिए बना ही नहीं हैं। पर इतना अवश्य है कि पैरों पर सीधा खड़े रहने से हाथों को केवल शरीर का भार ढोने की गुलामी से ही छुटकारा नहीं मिलता, अपितु उन्हें उत्कृष्ट कार्यों, जैसे पढ़ने या वाद्ययंत्र बजाने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता भी रहती है। जीवन की इन श्रेष्ठ आवश्यकताओं से परे होने के कारण पशुओं को पीठ दर्द का सामना नहीं करना पड़ता।

पीठ का मुख्य रचनात्मक आधार रीढ़ की हड्डी है, जो किसी जहाज के मस्तूल की तरह सीधी खड़ी रहती है और जिससे रस्सियां और पाल (मांसपेशियां और नसें) जुड़े रहते हैं। हां, जहां जहाज में रस्सियां-बल्लियां मस्तूल-पाल को साधे रहती हैं, वहीं मानव शरीर में रीढ़ की हड्डी अन्य सभी अंगों को सहारा देती हैं। इन दोनों में एक बड़ा अंतर और भी है। मस्तूल बिल्कुल सीधा खड़ा होता है जबकि रीढ़ की हड्डी कम से कम चार जगह से मुड़ी हुई होती है।

रीढ़ की हड्डी के ये चारों मोड़ क्रमशः गर्दन, वक्ष, उदर और कूल्हे के स्थलों पर होते हैं। गर्दन (सरवाइकल) तथा उदर (लम्बर) के हिस्सों में रीढ़ की हड्डी सामने से देखे जाने पर आगे की ओर उभरी दिखाई देती है, जबकि वक्ष (थोरेसिक) और कूल्हे (सेक्रल) भागों में इसका झुकाव पीछे की ओर होता है। कुल मिलाकर वह एक टेड़े-मेड़े सर्प की तरह दिखाई देती है। पीठ दर्द के आरंभ और कारणों को समझने में रीढ़ की हड्डी की बनावट का महत्वपूर्ण स्थान है।

याद रखने योग्य दूसरी बात यह है कि रीढ़ की हड्डी एकरूपा या पूरी एक हड्डी नहीं है। इसके विपरीत, इसकी रचना एक दूसरे पर रखी 34 अलग-अलग हड्डियों से होती है जो कैरम बोर्ड की बड़ी-बड़ी गोटियों के समान होती हैं, जिनके पिछले भाग से उंगली जैसा एक हिस्सा निकला रहता है। इस हिस्से के कारण (जो बाहरी सिरे पर नीचे की ओर मुड़े भी होते हैं) पूरी रीढ़ की हड्डी कांटेदार टहनी जैसी प्रतीत होती है जो इसके 'स्पाइन' नाम (लेटिन शब्द स्पाइना अर्थात् कंटीली झाड़ी) को सार्थक करती है।

इन वृहदाकार गोटियों को कशेरुका (वर्टीब्रा) के नाम से पुकारते हैं। इनकी संख्या गर्दन में सात, वक्ष में बारह तथा उदर व कूल्हे में क्रमशः पांच-पांच होती है। इस प्रकार इनमें कुल कशेरुका 29 होती हैं। शेष पांच बहुत छोटी होने के कारण आपस में जुड़ी रहती हैं। इनकी लंबाई उंगली के पोर के बराबर होती है और वे लुप्त हुई दुम की प्रतीक हैं।

वास्तव में कूल्हे के भाग के पांचों कशेरुका भी आपस में जुड़कर एकाकार होती हैं और यह सम्मिलित हड्डी 'सेक्रम' कहलाती है। इस प्रकार सही अर्थों मे रीढ़ की हड्डी में कुल 26 हड्डियां होती हैं– 7 गर्दन, 12 वक्ष, 5 उदर, 1 सेक्रम तथा 1 अनुत्रिक (कॉक्सिजियल)।

हम आश्चर्य कर सकते हैं कि आखिर प्रकृति को यह सब करने की क्या आवश्यकता थी, जब एक अकेली, लंबी हड्डी से काम चल सकता था। पर जब हम रीढ़ की हड्डी द्वारा संभव असंख्य कार्यकलापों पर दृष्टि डालते हैं तो प्रकृति का लोहा मानना पड़ता है। बद्ध कशेरुका संधिशोथ (एंकिलोसिंग स्पांडिलाइटिस) नामक रोग में, जब रीढ़ की हड्डी की सभी 26 हड्डियां आपस में जुड़कर 'बम्बू स्पाइन' का आकार धारण कर लेती हैं तो कमर की हरकत बिल्कुल समाप्त हो जाती है। रोगी दाएं-बाएं किसी भी तरफ झुक नहीं सकता। ऐसी स्थिति में रोगी के कष्ट की कल्पना की जा सकती है।

यदि प्रकृति ने एक दूसरे पर रखे कशेरुकाओं के मध्य कोई लचीला पदार्थ न डाला होता तो कल्पना कीजिए कि क्या होता? खेलने, कूदने या ऐसा ही कोई श्रम वाला कार्य करने पर वे एक दूसरे से टकरातीं या रगड़ खातीं। इसीलिए हर दो कशेरुकाओं के बीच में एक लचीला पदार्थ, जिसे अंतःकशेरुका चक्र कहते हैं, होता है। अंतःकशेरुका चक्र की रचना दो विभिन्न पदार्थों से होती है और वह देखने में जैली की बनी गुंथे आटे की पिंडी जैसा लगता है। इसका बाहरी भाग जिसे तंतुल वलय (एनुलस फाइब्रोसस) कहते हैं श्वेत लचीले ऊतकों से बना होता है और आंतरिक भाग जो न्यूक्लियस पल्पोसस कहलाता है जैली जैसी रचना वाला है। बढ़ती आयु के साथ बाहरी भाग में टूट-फूट होती चली जाती है जिससे जैली जैसा भीतरी पदार्थ उसी तरह बाहर निकल आता है जैसे ट्यूब से टूथपेस्ट। इससे सामान्य रोग स्लिपडिस्क उत्पन्न हो जाता है, जो पीठ के निम्न भाग के दर्द का कारण है।

[illegible] डिस्क व्याधि बहुदा 50 वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों को होती है तथा पुरुष व स्त्रियां इससे समान रूप से प्रभावित होते हैं। डिस्क के जल्दी क्षतिग्रस्त होने के कई कारण हैं, जिनमें कुपोषण एक है।

धूम्रपान से डिस्क जल्दी प्रभावित होती हैं क्योंकि इससे डिस्क को पोषित करने वाली रक्तनलियों में सिकुडन और रक्त प्रवाह में व्यवधान पैदा हो जाता है। इसी प्रकार स्थूल व्यक्तियों में भी डिस्क की आयु जल्दी बढ़ती है क्योंकि उन्हें शरीर का सामान्य से अधिक बोझ उठाना पड़ता है। यह सही है कि डिस्क को काल प्रभाव से अलग नहीं रखा जा सकता परंतु हम अच्छे भोजन, धूम्रपान रहित जीवन तथा मोटापे को नियंत्रित करके इस प्रक्रिया को धीमी अवश्य कर सकते हैं।

स्लिप डिस्क द्वारा पीठ के निचले हिस्से में दर्द का कारण है टूथपेस्ट जैसे पदार्थ का बाहर निकलकर मेरुदंड के समीप की नाड़ियों पर दबाव डालना। एक बार ऐसा होने पर इसका निराकरण संभव नहीं। इसका एक उपचार पीठ की मांसपेशियों को मजबूत करना है ताकि वे शरीर के अधिकाधिक भार को वहन कर सकें, जिससे मेरु शृंखला पर कम से कम दबाव पड़े। शल्य क्रिया द्वारा भी फैले हुए डिस्क पदार्थ को पूरी तरह हटाया जा सकता है।

सर्वाधिक मात्रा में होने वाले पीठ दर्द में से एक है – कटिवेदना (लम्बैगो)। यह लेटिन शब्द लम्बस, अर्थात् कटि, से बना है। यह सामान्यतया लापरवाही से झुकने, वजन उठाने या शरीर को गलत स्थिति में रखने से होता है। ऊंची एड़ी के सेंडिल पहनने वाली महिलाएं इसकी सबसे अधिक शिकार होती हैं। ऊंची एड़ी के सेंडिलों के कारण शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है और भार उठाने वाला अक्ष बदल जाता है। यह अक्ष वह काल्पनिक रेखा है जिससे होकर शरीर का भार धरातल तक पहुंचता है। चित्र 1. में दिखाया गया है कि अक्ष रीढ़ की हड्डी के कूल्हे वाले भाग के ठीक सामने से गुजरता है। ऊंची एडी के सेंडिल अक्ष रेखा के संतुलन
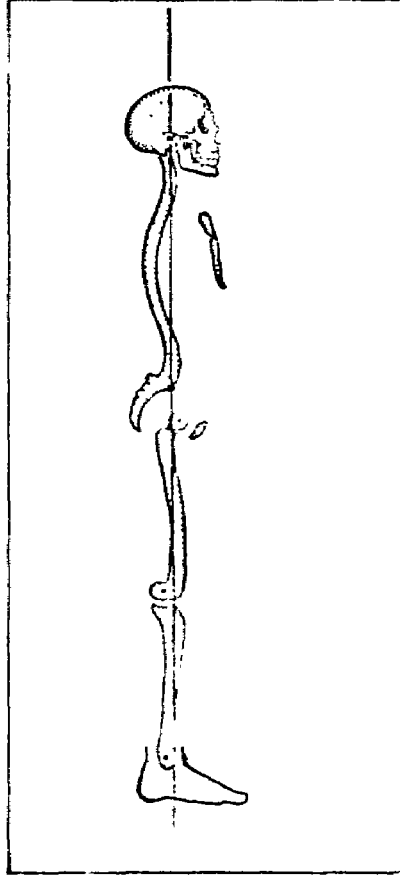
चित्र 1. गुरुत्व रेखा

को गड़बड़ा देते हैं, जिससे कटि-क्षेत्र को अधिक भार उठाना पड़ता है। परिणाम होता है — कटिवेदना।

गर्भवती महिलाओं को आखिरी महीनों में होने वाले पीठ दर्द का कारण भी यही है। गर्भावस्था में भ्रूण का भार कटि-क्षेत्र को आगे की ओर झुका देता है, जिससे रीढ़ का स्वाभाविक वक्र बदल जाता है तथा कमर पर अधिक दबाव पड़ता है।

पीठ दर्द की दूसरी आम वजह है रीढ़ में अस्थि संधिशोध या ऑस्टियोआर्थाराइटिस (यूनानी शब्द ऑस्टियोन अर्थात् अस्थि ; आर्थ्रोस अर्थात् संधि तथा आइटिस अर्थात् प्रज्वलन)। इस प्रकार इसमें हड्डियों और जोड़ों में प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। यह वृद्ध व्यक्तियों की सामान्य समस्या है तथा मुख्यतया शरीर के अनवरत घिसाव के फलस्वरूप होती है। 50 वर्ष से अधिक आयु वालों में यह अधिकतर पायी जाती है। एक बार प्रारंभ होने पर इसे रोकना या

ठीक करना मुश्किल होता है। हड्डियों और जोड़ों को भार मुक्त करना ही इसका एकमात्र उपलब्ध उपाय है। इसके लिए शरीर का वजन घटाना आवश्यक है। या फिर, पीठ की मांसपेशियों को नियमित व्यायाम द्वारा पुष्ट करना पड़ता है, ताकि वे आंशिक रूप से शरीर का भार वहन कर सकें।

यदि दुर्भाग्य से ये रोग लग भी जायें तो घबराइये नहीं। शरीर रूपी यह चमत्कारिक मशीन बिना टूट-फूट ठीक किये 50 वर्षों तक चल सकती है। मानव द्वारा निर्मित बढ़िया से बढ़िया मशीन भी बिना सुधारे इतने दिनों तक काम नहीं कर सकती।

और अब, अंतिम परंतु उतना ही महत्वपूर्ण, पीठ दर्द का कारण है—अस्थिसुषिदता या ऑस्टियोपोरोसिस। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है हड्डियों में लवणों की मात्रा कम होती जाती है, अर्थात् उनमें मजबूती प्रदान करने वाले पदार्थों, जैसे कैलशियम और फॉस्फेट की धीरे-धीरे कमी हो जाती है। इससे हड्डिया कमजोर और भुरभुरी हो जाती हैं। एक्स-रे तथा अस्थि परीक्षण द्वारा इनका पता आसानी से लगाया जा सकता है। इस रोग में हड्डियों पर दबाव का प्रभाव भी पड़ता है। ज्यों ही कशेरुका के सिरों में क्षति होती है हिलने-डुलने पर वह क्षतिग्रस्त कशेरुका साथ वाली कशेरुका से रगड़ खाती है जिससे दर्द और बढ़ जाता है। रात में दर्द होना एक आम बात है। यही नहीं, विश्राम से भी दर्द में कोई विशेष लाभ नहीं होता, और फिर सुबह की जकड़न तो है ही।

तेज पीठ दर्द से उपचार में मुख्यतया विश्राम तथा दर्द-निवारक औषधियां, जैसे एस्पिरिन या पैरासेटामोल, देने का प्रावधान है। बहुत से पीठ दर्द इन साधारण दवाओं से ही ठीक हो जाते हैं। परंतु जब दर्द का कारण टूट-फूट (स्लिप डिस्क या ऑस्टियोआर्थाराइटिस) होती है तो बिस्तर का अधिक विश्राम हानिकारक हो जाता है। ऐसे में पीठ की मांसपेशियों को सुदृढ़ करना आवश्यक होता है। इस कार्य के लिए मुख्यतया निम्नलिखित तीन व्यायामों की सिफारिश की जाती है :

व्यायाम - 1 : **कमर के बल सीधे लेटिए, टांगें सीधी और बांहें सीधी सटी हुईं। एक घुटना उठाकर धीरे-धीरे वक्ष की ओर मोड़िए। इसे दस बार दोहराएं।**

व्यायाम - 2 : **सिर एक मुड़े हुए तौलिए पर रखकर लेटिए—घुटने मुड़े हुए और पैर जमीन पर। धीरे-धीरे अपने नितंबों को ऊपर उठाएं, फिर नीचे करें। इसे दस बार दोहराएं।**

व्यायाम - 3 : **सीधे खड़े हों, बाजू ढीली व सीधी रखें तथा कंधे पीछे की ओर झुके हुए। सिर और बांहों को धीरे-धीरे झुकाते हुए कमर से आगे की ओर झुकें। बिना घुटने मोड़े इस व्यायाम को जारी रखें और पैरों के अंगूठों को छूने का प्रयास करें। इसे दस बार दोहराएं।**

इनके अलावा पीठ दर्द के रोगी को सख्त से सख्त बिस्तर पर सोना चाहिए। तख्तपोश या फर्श पर सोना सबसे हितकर है।

गर्भावस्था की अवधि में कुछ बातों का ध्यान रखकर इसे दूर (या कम से कम सीमित) किया जा सकता है। यदि गर्भावस्था से पहले ऊंची एड़ी के जूतों का आप इस्तेमाल करती रही हों तो भी इस अवस्था में कभी न पहनें। घर का काम करते समय जहां तक संभव हो कमर सीधी रखें। इस्त्री करने, पोंछा लगाने, बरतन धोने आदि के कामों में आगे झुकना पड़ता है, परंतु इसमें थोड़ा बदलाव करने से लाभ होगा। उदाहरणार्थ, इस्त्री करते समय स्टूल पर बैठें, बरतन सिंक में धोएं, जिससे झुकना न पड़े। बिस्तर से झटके से न उठें क्योंकि इससे पीठ की पेशियों पर अनावश्यक दबाव पड़ता है। इसके लिए यह उचित है कि पहले एक ओर करवट लें और फिर पैरों को जमीन पर रखें। बच्चों को भी झुककर नहीं उठाना चाहिए। अच्छा हो यदि बिस्तर या सोफे पर अपने साथ ही बच्चों को बिठाकर उन्हें खिलाएं-पिलाएं या प्यार करें।

याद रखें, इलाज से बचाव बेहतर है। अतः इसका इंतजार न करें कि पीठ दर्द हो तो उसका उपचार किया जाये। यदि आप इतने भाग्यशाली हैं कि आपको पीठ का दर्द नहीं है तो इसे जीवन पर्यंत दूर रखने का प्रयास कीजिए। निरंतर व्यायाम से पीठ की मांसपेशियों को मजबूत बनाएं। इसके अलावा सैर करना और तैरना भी अच्छे व्यायाम हैं। टैनिस और बेडमिंटन पीठ की मांसपेशियों को उत्तम स्थिति में रखते हैं। वजन भी कम रखें। जब कभी झुकना भी पड़े तो रीढ़ की जगह घुटनों को झुकाएं। सदैव सीधा खड़ा होने का प्रयत्न करें। पीठ को सहारा देने वाली कुर्सियों पर ही बैठें। खाना सदैव मेज पर ही खायें, आगे झुक कर टेलीविजन न देखें। पीठ दर्द को दूर रखने की कुंजी शरीर को सही स्थिति में रखने तथा पीठ की पेशियों को मजबूत रखने में है।

इस अध्याय के आरंभ में कहा गया था कि शरीर को सीधा रखने का मूल्य हमें पीठ दर्द के रूप में चुकाना पड़ता है। बहरहाल, यदि हम ऊपर बताए सामान्य नियमों का पालन करें तो न केवल उसे दूर कर सकते हैं बल्कि उससे बच भी सकते हैं।

"धूम्रपान-रहित क्षेत्र में यह धूम्रपान क्यों कर रहा है?"

श्वासनली प्रदाह

प्रदूषण के प्रति शरीर का चीत्कार ही श्वासनली प्रदाह है। लगता है जैसे अकेला प्रदूषण काफी नहीं था जो हम धूम्रपान से अपने फेफड़े खराब करते हैं। चिकित्सीय साक्ष्यों से प्रमाणित हो गया है कि श्वासनली प्रदाह का सबसे बड़ा कारण सिगरेट का धुआं है। वास्तव में धूम्रपान न करने वाले व्यक्ति के मुकाबले धूम्रपान करने वाले व्यक्ति को श्वासनली प्रदाह होने की संभावना 50 गुणा अधिक है। धूल व अन्य प्रदूषक आग में ईंधन का काम करते हैं। यही कारण है कि गांव वालों के मुकाबले शहरी लोगों में यह अधिक होता है। स्त्रियों के मुकाबले पुरुषों में चार गुणा अधिक व्याप्त यह रोग एक समय इंग्लैंड में इतना सामान्य हो गया था कि इसे 'अंग्रेजों का रोग' की संज्ञा दे दी गई थी। सर्वाधिक जीवननाशक दस रोगों में इसका स्थान छठा है। अतः इस घातक रोग के बारे में अधिक ज्ञान और उसे प्रभावशाली ढंग से रोकने की जानकारी हमें होनी चाहिए।

नाक द्वारा सांस ली गई वायु पहले ट्रेकिया या श्वास-प्रणाल और फिर अनेकों छोटी-छोटी नलिकाओं (ब्रोंकाइ) से होकर फेफड़ों में पहुंचती है। यदि आप किसी व्यक्ति के गले में झांक कर देखें तो आपको दो बड़ी नलिकाएं नीचे की ओर जाती दिखाई पड़ेंगी। इनमें से एक भोजन की नली है, जो आमाशय तक भोजन ले जाती है और दूसरी श्वास की नली जो छोटी श्वास नलिकाओं से होकर वायु को फेफड़ों में ले जाती है। कितने आश्चर्य की बात है कि प्राचीन यूनानियों का विश्वास था कि ठोस भोजन भोजन-नली द्वारा आमाशय में पहुंचता है जबकि तरल श्वास नली द्वारा। भले ही यह धारणा गलत थी परंतु इससे कम से कम ब्रोंकाई शब्द की उत्पत्ति तो हुई। यूनानी भाषा में 'ब्रेको' का अर्थ है 'छिड़कना' 'गीला करना' या 'उड़ेलना'।

श्वास-प्रणाल नीचे जाकर दो भागों में बंट जाता है। ये भाग हैं--दांया और बायां ब्रोंकस, जो लाखों सूक्ष्म नलिकाओं में बंटता जाता है और अंत में वायु-कोशों (एलवियोली) में समाप्त होता है। इन्हीं छोटे-छोटे वायु-कोशों में रक्त आक्सीजन ग्रहण करता है और कार्बन डाइआक्साइड बाहर निकालता है। श्वास-प्रणाल, ब्रोंकाई तथा इनके छोटे भाग एक अत्यंत गुलाबी रंग वाली मखमली झिल्ली से ढंके रहते हैं जो श्लेष्मा-झिल्ली (म्यूकोसा) कहलाती है। जिस प्रकार हम अपने कमरे के फर्श की रक्षा के लिए गलीचा बिछाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति ने इन नलिकाओं की दीवारों को सुरक्षित रखने के लिए श्लेष्मा प्रदान की है। अब जरा कल्पना कीजिए कि कोई धूल भरे जूते लेकर घर में घुस आये। फर्श की रक्षा तो निसंदेह हो जायेगी परंतु गलीचा गंदा हो जायेगा। ठीक ऐसा ही श्वास-नलिकाओं के बारे में होता है, जब हम धुएं या प्रदूषित वायुमंडल में रहते है। ये 'गंदे' आक्रमणकारी (धुआं व वायु-प्रदूषक) इन नलिकाओं की दीवारों को भले ही हानि न पहुंचायें, श्लेष्मा-झिल्ली को गंभीर रूप से उत्तेजित कर देते है, जिससे एक चिपचिपा पदार्थ, श्लेषमल (म्यूकस) निकलने लगता है। यह पदार्थ वायु-प्रदूषकों तथा धुएं के कणों को लपेट लेता है, पर यदि फेफड़ों में बहुत अधिक मात्रा में धूलकण और धुआं घुसने की कोशिश करें तो श्लेषमल भी काफी हद तक श्लेष्मा-झिल्ली को नहीं बचा पाता। होता यह है कि श्लेष्मा-झिल्ली द्वारा लगातार श्लेषमल का विसर्जन करते रहने पर भी वह उसे एक खास स्थिति के बाद बचा नहीं पाता। चिपचिपा श्लेषमल बेक्टीरिया की वृद्धि का एक अच्छा माध्यम है जहां वे तेजी से बढ़ते हैं और उसे एक हरे-पीले गाढ़े पदार्थ में बदल देते हैं। यह पदार्थ वही है जिसे धूम्रपान करने वाले काफी मात्रा में निकालते हैं और जो बलगम के नाम से जाना जाता है। अब चूंकि इस संक्रमित बलगम को शरीर से बाहर निकालना आवश्यक है, अतः बार-बार खांसी आना शुरू हो जाती है। श्वासनलिका प्रदाह की यह एक पक्की पहचान है। क्या यह कम आश्चर्य की बात है कि प्राचीन काल में श्वासनलिका प्रदाह रोग था ही नहीं। कारण, न प्रदूषक थे और न सिगरेट। उन्नीसवीं शताब्दी में इस रोग का पहली बार उल्लेख हुआ। चार्ल्स बेधम नामक एक अंग्रेज ने सन् 1808 में इस रोग को नाम दिया और इसकी कुछ व्याख्या

की। 'आइटिस' वास्तव में एक यूनानी प्रत्यय है जिसका अर्थ है 'प्रदाह'। अतः जैसे साइनस और कंजंक्टाइवा के प्रदाह को क्रमशः साइनुसाइटिस और कंजंक्टाइविटिस कहा जाता है, वैसे ही ब्रोंकाई के प्रदाह को ब्रोंकाइटिस कहते हैं।

श्वासनली प्रदाह का प्रमुख कारण धूम्रपान है। इसके अलावा यह अधिकतर जाड़ों के दिनों में तथा नम और ठंडी जलवायु में होता है। ठंड लगना, भीड़ तथा थकावट भी इसे बढ़ाते हैं। श्वासनली प्रदाह प्रारंभ से ही तीव्र होता है, अर्थात् एकदम पकड़ लेता है। तीव्र प्रदाह में सिर की जकड़न, बहती नाक, ज्वर व कंपन, पुट्ठों में दर्द तथा पीठ का दर्द प्रारंभिक लक्षण हैं। इसके तुरंत बाद होती है लगातार खांसी। शुरू में यह खुष्क और कष्टदायक परंतु बाद में वह बलगमी हो जाती है। रात में इसकी तीव्रता बढ़ जाती है, और तब भी जब रोगी धुएं में सांस लेता है।

तीव्र श्वासनली प्रदाह का पहला चरण उचित उपचार से ठीक हो जाता है। यही वह स्थिति है, जब रोगी को धूम्रपान छोड़ देना चाहिए। परंतु दुर्भाग्य से अधिकतर धूम्रपान जारी रहता है और रोगी को जल्दी ही चिकित्सक की शरण में आना पड़ता है— अपने दूसरे दौरे के कारण। यह चक्र तब तक लगातार चलता रहता है, जब तक कि लगभग पूरा वर्ष रोगी इस रोग से पीड़ित नहीं रहने लगता। रोग की यह अवस्था दीर्घकालीन श्वासनली प्रदाह (क्रोनिक ब्रोंकाइटिस) कहलाती है। तकनीकी रूप से दीर्घकालीन श्वासनली प्रदाह उस बलगमी खांसी को कहते है जो दो या अधिक वर्षों से हो तथा जिसमें प्रतिवर्ष रोगी तीन महीनें, सप्ताह के अधिकतर दिनों में, इससे पीड़ित रहे।

अधिकतर दीर्घकालीन श्वासनली प्रदाह से एक अन्य भयंकर रोग उत्पन्न हो जाता है, जिसे वातस्फीति (एम्फाइसीमा) कहते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति एक यूनानी शब्द से हुई है जिसका मतलब है 'आवश्यकता से अधिक फूल जाना'। ये अधिक फूल जाने वाले अंग फेफड़ों में मौजूद सूक्ष्म गुब्बारे या वायुकोश होते हैं। प्रदाह के लंबी अवधि तक बने रहने से वायुकोशों तक वायु ले जाने वाली छोटी नलिकाएं अपनी प्रत्यास्थता (इलास्टिसिटी) खो बैठती हैं। उनका व्यास कम हो जाने के कारण वे मोटी भी हो जाती हैं। फलस्वरूप, वायुकोशों में वायु आ तो आसानी से जाती है, परंतु उतनी आसानी से निकल नहीं पाती। या यूं कहिए, रोगी सांस ले तो सकता है, परंतु उसे आसानी से निकाल नहीं सकता। इससे बहुत सी दूषित वायु फेफड़ों में ही एकत्रित हो जाती है। जैसे-जैसे इसका दबाव वायुकोशों पर पड़ता है, उनकी नाजुक दीवारें फटने की हद तक खिंच जाती हैं। नतीजा यह होता है कि कितने ही वायुकोश आपस में जुड़ जाते हैं और वह स्थान जहां ऑक्सीजन और कार्बन डाइआक्साइड में आदान-प्रदान होता है, आयतन में कम हो जाता है। अंततः सांस छोटी आने लगती है, हृदय पर अधिक दबाव पड़ता है और कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है।

वातस्फीति द्वारा धूम्रपान करने वालों के फेफड़ों के ऊतक किस प्रकार नष्ट हो सकते हैं
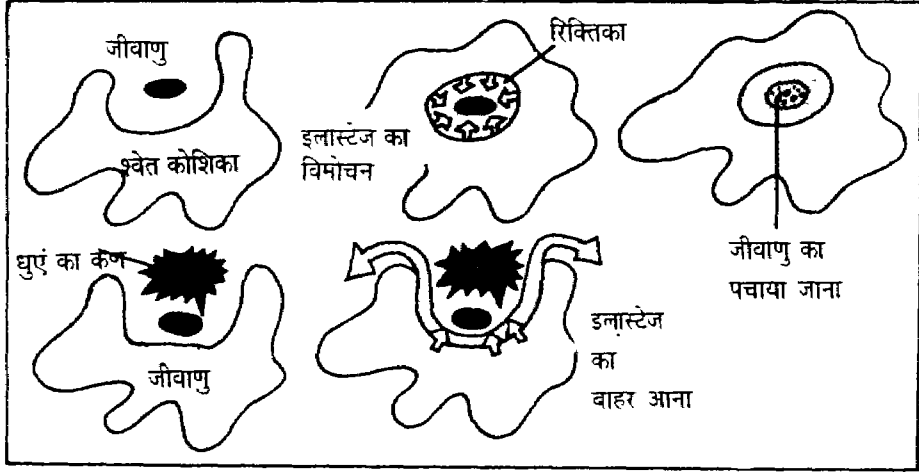
चित्र 2. धूम्रपान न करने वाले व्यक्तियों में श्वेत कोशिका जीवाणुओं को रिक्तिका में फंसाकर उन्हें इलोस्टेज एन्जाइम द्वारा नष्ट कर देती हैं (ऊपर)। धूम्रपान करने वालों में धुए के कण रिक्तिका निर्माण में बाधा डालते हैं, जिससे इलास्टेज श्वेत कोशिका से बाहर निकल जाता है। यदि वह रक्त में मौजूद एल्फा-1 एंटीट्रिपसिन के द्वारा अहानिकारक नहीं बना दिया जाता, जिसकी कुछ व्यक्तियों में कमी होती है, तो वह फेफडे के ऊतको को नष्ट कर सकता है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि धूम्रपान करने वाला एक व्यक्ति तो दीर्घकालीन श्वासनली प्रदाह और वातस्फीति की पकड़ में आ जाता है और दूसरा जो प्रतिदिन उतनी ही या उससे ज्यादा सिगरेट पीता है, इन रोगों से मुक्त रहता है। वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है। यह उन धूम्रपान करने वालों की दलील है, जो धूम्रपान छोड़ नहीं पाते। चिकित्सा अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गया है कि जिन्हें श्वासनली प्रदाह होता है, उन धूम्रपान करने वालों के रक्त में 'एल्फा-1 एंटीट्रिपसिन' नामक एन्जाइम की कमी होती है। जब कोई जीवाणु किसी धूम्रपान न करने वाले व्यक्ति के फेफड़े में प्रवेश कर जाता है तो वहां उपस्थित श्वेत रक्तकण 'इलास्टेज' नामक एन्जाइम की सहायता से उसे नष्ट कर देते है। धूम्रपान करने वालों के मामले में धुएं के कण जीवाणुओं को प्रभावशाली ढंग से नष्ट करने की क्रिया में बाधक होते हैं। इसका असर यह होता है कि इलास्टेज एन्जाइम फेफड़ों के आसपास के ऊतकों में समाविष्ट हो जाता है। इस एन्जाइम को एल्फा-1 एंटीट्रिपसिन के सहयोग से हानिरहित करना आवश्यक है, नहीं तो यह फेफड़ों के ऊतकों को भी पचाकर नष्ट कर देगा। इससे फेफड़े के ऊतकों को भारी क्षति होती है (चित्र.2)। वातस्फीति से ग्रसित रोगी के फेफड़ों में इतनी वायु संचित रह जाती है कि उसका वक्ष एक बैरल की तरह प्रतीत होने लगता है (चित्र.3)।
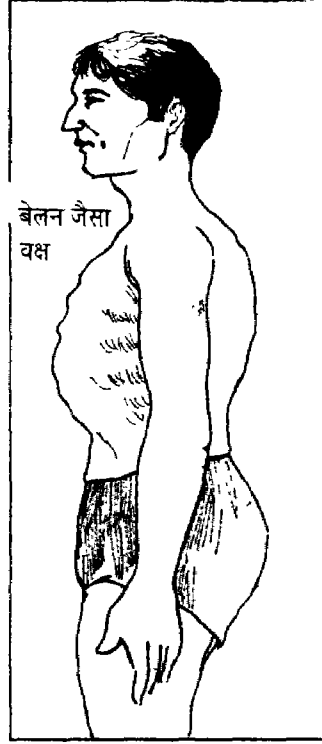
चित्र 3. वातस्फीति दीर्घकालीन दमा या
श्वसनली प्रदाह के कारण होती है।

दीर्घकालीन श्वासनली प्रदाह से ग्रसित रोगी के फेफड़े धीरे-धीरे इतने खराब हो जाते हैं कि उसे चलने में भी परेशानी होने लगती है। रोग जितना गहरा होता है रोगी की कार्यक्षमता उतनी ही कम होती जाती है। चिकित्सक श्वासनली प्रदाह को चार अवस्थाओं में विभक्त करते हैं— पहली, प्रातः थोड़ी सी खांसी बिना किसी अन्य असुविधा के ; दूसरी, थोड़ी मेहनत से हांफ जाना ; तीसरी, हांफने की मात्रा का इतना बढ़ जाना कि रोगी घर से बाहर न जा सके; और चौथी, रोगी इतना हांफने लगे कि साधारण बातचीत भी न कर सके। बहुत से रोगी जानना चाहेंगे कि क्या उनका यह रोग कैंसर में भी बदल सकता है। देखिए, श्वासनली प्रदाह कैंसर में परिणित नहीं होता, परंतु इस रोग का आधारभूत कारण—धूम्रपान करना —फेफड़ों में कैंसर की संभावना पैदा कर देता है। धूम्रपान करने वाले व्यक्ति में धूम्रपान न करने वाले व्यक्ति के मुकाबले कैंसर की बीस गुणा अधिक संभावनाएं होती हैं। कुछ धूम्रपान करने वालों में यह भावना आम है कि किसी शुभ दिन वे धूम्रपान छोड देंगें और उस दिन से उनकी श्वासनली प्रदाह की धारा उल्टी हो जायेगी। परंतु वास्तविकता यह है श्वासनली प्रदाह की प्रक्रिया भले ही धीमी पड़ जाये या थम जाये परंतु वह कभी उल्टी नहीं हो सकती। जितनी श्लेषमा-झिल्ली
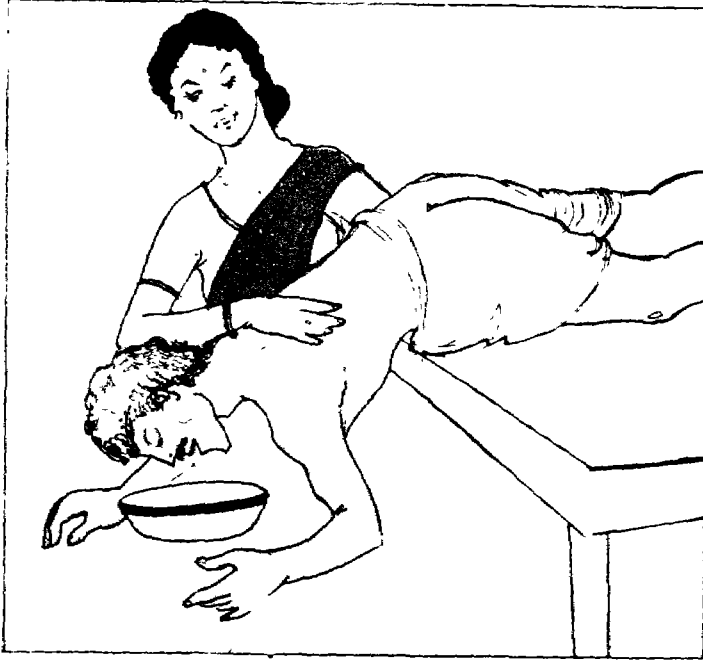
चित्र 4. उलटा लिटाकर श्लेष्मा निकालना।

नष्ट हो गयी, वह हमेशा के लिए हो गयी। अतः यदि धूम्रपान छोड़ना है तो उसे आज ही छोड़ना उत्तम है, कल नहीं।

तीव्र श्वासनली प्रदाह का उत्तम उपचार किसी गर्म कमरे में विश्राम है। खांसी की औषधियां खांसी दूर करती हैं और प्रतिजैविक संक्रमण को दूर करते हैं। तीव्र प्रदाह की चिकित्सक अधिक चिंता नहीं करते। हां, दीर्घकालीन प्रदाह की बात और है, क्योंकि हो सकता है कि उस पर चिकित्सा का बिल्कुल असर न हो। दीर्घकालीन श्वासनली प्रवाह के रोगी को खांसी दूर करने वाली तथा प्रतिजैविक औषधियों के अतिरिक्त श्वासनलिका को विस्फारित करने वाली औषधि भी देनी होती है, जिससे गाढ़ी श्लेष्मा तथा मोटी दीवारों के कारण उत्पन्न व्यवधान दूर किया जा सके। भौतिक चिकित्सा द्वारा रोगी का बलगम निकालने में मदद मिलती है। पोस्टुरल ड्रेनेज भी श्लेष्मा बाहर निकालने में सहयोगी है। इस काम के के लिए रोगी को पानी की गर्म भाप सुंघाई जाती है जिससे श्लेष्मा ढीली हो जाती है। रोगी को आंशिक रूप से पलंग पर इस तरह लिटाया जाता है जिससे उसका सिर और वक्ष पलंग से नीचे लटके रहें। इस स्थिति में जब कमर को धीरे से थपथपाया जाता है तो श्लेष्मा बाहर निकल जाती है। श्वास-क्रिया के अभ्यास से भी श्वास को गहरा किया जा सकता है। गहन मामलों में हांफने की स्थिति से छुटकारा दिलाने के लिए ऑक्सीजन की मदद ली जाती है।

यह कथन बिल्कुल सत्य है कि 'बचाव इलाज से बेहतर है'। सबसे महत्वपूर्ण कार्य जो किया जा सकता है वह यह कि धूम्रपान को तिलांजली दे दी जाये। परंतु यह कहना आसान और करना मुश्किल है। कुछ बातों से इस कार्य में मदद मिल सकती है। धूम्रपान करने वालों और धुएं भरी जगहों से परहेज कीजिए। इनसे धूम्रपान की इच्छा जागृत होती है। उन परिस्थितियों से भी दूर रहने का प्रयत्न कीजिए जिनमें, आपके अनुभव के अनुसार, धूम्रपान की संभावना अधिक हो। दूसरों से कहिए, आपकी उपस्थिति में धूम्रपान न करें। अपने घर और दफ्तर को 'धूम्रपान विहीन' क्षेत्र बना दीजिए। अपने सिगरेट लाइटर, राखदानी, आदि को फेंक दीजिए। अपने हाथों से कुछ ऐसा करने लगें जिससे धूम्रपान की इच्छा का दमन हो सके जैसे चाबियों के गुच्छे को उंगली से घुमाने आदि से मनःस्थिति बदल सकती है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण है—धूम्रपान न करने का दृढ़ संकल्प।

"मेरे जुकाम, खांसी और बुखार की अक्सीर दवा।"

जुकाम

जुकाम ऐसी स्थिति है जिसमें आपके नाक से लगातार पानी बहता है। वास्तव में यह संसार में सबसे अधिक पाया जाने वाला रोग है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे जीवन में कभी यह रोग न हुआ हो। पूरी तरह हानिरहित होते हुए भी यह यह रोग जितना तंग करता है, उतना दूसरा कोई और नहीं। सामान्य धारणा है कि यह रोग ठंड लगने या भीगने से होता है। परंतु ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता तो बेचारे एस्कीमों तो हमेशा जुकाम से पीड़ित रहते। यह रोग राइनोवायरस (यूनानी शब्द जिसका अर्थ है 'नाक के विषाणु') नामक विषाणुओं द्वारा श्वसन-प्रणाली के ऊपरी भाग (नाक और वायुनलिका) के संक्रमण से होता है। इन विषाणुओं की 100 से अधिक किस्में हैं। ये विषाणु जीवाणुओं (बेक्टीरिया) से बहुत छोटे होते हैं – एक इंच के लगभग 2 खरब 50 अरबवें हिस्से के बराबर। इस सूक्ष्मतम आकृति से उनकी कठोरता का अनुमान लगाना बड़ा कठिन है। उनका संरक्षात्मक कवच उन्हें – 200° फा.तक के तापक्रम, और गुरुत्वाकर्षण के एक लाख गुना के बराबर बल से बचा सकता है। यह विषाणु चिंपांजी

को छोड़कर अन्य किसी जानवर को प्रभावित नहीं करता। अतः लगता है, मनुष्य से तो पशु ही अच्छे हैं जो कभी भी जुकाम के शिकार नहीं होते।

यह सही है यदि आपको पहले से जुकाम है और उस पर आप भीग जायें तो आपको कहीं अधिक कष्ट उठाना पड़ेगा। इसका यह मतलब नहीं कि सिर्फ भीगने से ही आपको जुकाम हो जायेगा। ध्रुवों के जीवाणु-रहित वायुमंडल में अन्वेषक हमेशा जुकाम आदि से उस समय तक पूरी तरह मुक्त रहते हैं जब तक कि वे पुनः मनुष्यों के संपर्क में नहीं आते। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ठंडी और नम खाइयों में लंबे समय तक रहने वाले सैनिकों में जुकाम लगने की कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं थी। इसी प्रकार ऑसवित्ज-स्थित द्वितीय विश्वयुद्ध बंदियों के यातना-शिविर में भी, जहां कैदी अत्यंत ठंडे वातावरण में नंगे रखे जाते थे, उनके ठंड या जुकाम से पीड़ित होने की कोई असामान्य प्रवृत्ति नहीं थी।

जुकाम के प्रभावशाली उपचार तथा उसके बारे में तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने के मुख्य उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने सन् 1946 में विल्टशायर में 'कॉमन कोल्ड यूनिट' की स्थापना की। इस संस्था के भवन का निर्माण अमेरिकन रेड क्रास ने सन् 1940 में किया था। वास्तव में, इस भवन का निर्माण ब्रिटिश शहरों पर संभावित बड़े हवाई हमलों के फलस्वरूप मोतीझरा और हैजा महामारियां फैल जाने पर रोगियों के लिए आपातकालीन संक्रामक रोग चिकित्सालय उपलब्ध कराने की दृष्टि से किया गया था। आरंभ में इसमें रेड क्रास की नर्सें थीं। वैज्ञानिक तथा चिकित्सा-कार्यकर्ता हारवर्ड विश्वविद्यालय से उपलब्ध कराये गये।

यह अनुसंधान एकक अनेक बातों में भिन्न था। पहला तो यह कि अपने प्रकार की यह विश्व की सर्वप्रथम संस्था थी जो जुकाम जैसे सामान्य रोग के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित थी, जिसके बारे में चिकित्सक न के बराबर ध्यान देते हैं। इसके साथ ही, जिन स्वयंसेवकों को प्रयोग के लिए चुना जाता था वे एक महीने तक नवाबों की जिंदगी बिताते थे। उनके यात्रा-भत्ते का भुगतान किया जाता था। स्टेशन पर एकक की ओर से उन्हें लेने कार्यकर्ता उपस्थित रहते थे। बहुदा स्वयंसेवक अपने जीवन साथी को साथ लाते थे। उनके रहने के लिए जो आरामदायक व्यवस्था होती उसमें एक बड़ा कमरा, दो या तीन एक बिस्तर वाले शयन-कक्ष, चिकित्सा-कक्ष, रसोई और स्नानघर होते थे जो सभी केंद्रीय रूप से गर्म रखे जाते थे। विल्टशायर के आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों के प्राकृतिक सौंदर्य का आनंद लेने की रोगियों को पूरी स्वतंत्रता थी। कहना न होगा स्वयंसेवकों के लिए वह स्थान मौजमस्ती का था।

जिन प्रयोगों में स्वयंसेवकों को भाग लेना होता था, उनमें उन्हें पहले गर्म पानी से नहलाया जाता और फिर बिना शरीर पोंछें तेज हवा वाले बरामदों में खड़ा किया जाता। इस पर भी वे उस नियंत्रित दल, जिसे ऐसा कुछ भी नहीं करना होता था, के मुकावले में बहुत कम ठंड से ग्रसित होते थे। स्वयंसेवकों के अन्य वर्ग को वर्षा में बाहर घूमने भेजा जाता और लौटने पर ऐसे कमरों में बंद कर दिया जाता जिसमें गर्म रखने की कोई व्यवस्था नहीं थी और न उन्हें

अपना शरीर ही सुखाने दिया जाता था। इस वर्ग को फिर जुकाम के विषाणुओं के संपर्क में लाया जाता। आश्चर्य की बात है कि इस वर्ग में नियंत्रित दल, जिसे न वर्षा में जाना पड़ता था और न विषाणुओं से प्रभावित किया जाता था, के मुकाबले जुकाम से पीड़ित होने की कोई अधिक संभावना नहीं पायी गयी।

स्वयंसेवकों पर हुए इन प्रयोगों से कई रोचक बातें सामने आयीं। एक तो यह कि थके हुए व्यक्ति पर जुकाम जल्दी असर करता है। दूसरे, महिलाएं पुरुषों की अपेक्षा जुकाम से अधिक पीड़ित होती हैं। और तीसरे, अंतर्मुखी व्यक्ति बहिर्मुखी व्यक्तियों की अपेक्षा जुकाम से अधिक तीव्रता से पीड़ित होते हैं।

यह अनुसंधान वास्तव में बड़ा महंगा रहा। प्रतिवर्ष लगभग 400 स्वयंसेवकों को भर्ती किया जाता था जिसमें से प्रत्येक पर औसतन 800 पौंड खर्च होते थे। आरंभ में धन की व्यवस्था ब्रिटिश मेडिकल रिसर्च काउंसिल ने की। परंतु वर्ष 1990 तक इस पर खर्च इतना अधिक होने लगा कि जब यह एकक जुकाम की एक प्रभावकारी औषधि के निर्माण के अत्यंत निकट था, इसे धन के अभाव में बंद कर दिया गया।

इन प्रयोगों ने हमारे देश में व्यापक रूप से फैली जुकाम संबंधी धारणाओं को पूरी तरह गलत सिद्ध कर दिया। स्नेहमयी बूढ़ी दादी घर के किसी भी सदस्य को नहाने के बाद न तो पंखे के नीचे खड़ा होने देती है और न उसे वर्षा में बाहर से आने के बाद देर तक गीला रहने देती है। उसकी गहरी मान्यता है कि इससे न केवल जुकाम बल्कि इन्फ्लुएंजा या निमोनिया तक हो सकता है। क्या उपरोक्त वर्णित प्रयोगों से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि ये धारणाएं कितनी निर्मूल हैं?

जुकाम के बारे में आज ही नहीं, प्राचीन काल के लोगों में भी इस तरह की बड़ी अजीबोगरीब भ्रांतियां थीं। उदाहरणार्थ, उनका विश्वास था कि मस्तिष्क के चारों ओर का द्रव जुकाम के लक्षण के रूप में नाक से बहने लगता है। मस्तिष्क के नीचे स्थित पीयूष ग्रंथि (पिटुइटरी ग्लैंड) का नामकरण इसी भ्रामक विश्वास के कारण हुआ। लैटिन शब्द, पिटुइटा का अर्थ है बलगम। समझा जाता था कि मटर के आकार की इस ग्रंथि से ही निकला बलगम नाक से बाहर आता है। जबकि सच्चाई यह है कि वह ग्रंथि इस निकृष्ट कार्य से कहीं श्रेष्ठ कार्यों से जुड़ी है। उनकी यह भी मान्यता थी कि यदि बलगम रुक जाये तो बीमारी हो जाती है। अतः बलगम का नाक से निकलते रहना रोगी के लिए अच्छा रहता है। आज भी कुछ लोग जुकाम होने के बाद अपने को बेहतर महसूस करते हैं। वे सही हो सकते हैं। रोजमर्रा की उबाऊ मशीनी जिंदगी से उन्हें केवल छुटकारा ही नहीं मिलता, बल्कि कुछ दिन बिस्तर में रहने से आराम भी मिलता है।

केवल राइनोवायरस ही हमेशा जुकाम के लिए उत्तरदायी नहीं होते ; हालांकि अक्सर ऐसा ही होता है। कई बार एक अन्य विषाणु, कोरोनावायरस, भी इसके लिए जिम्मेदार होता है। एक अन्य विषाणु, एडिनोवायरस (एडिनायड तंतुओं में पाये जाने के कारण) बच्चों और किशोरों
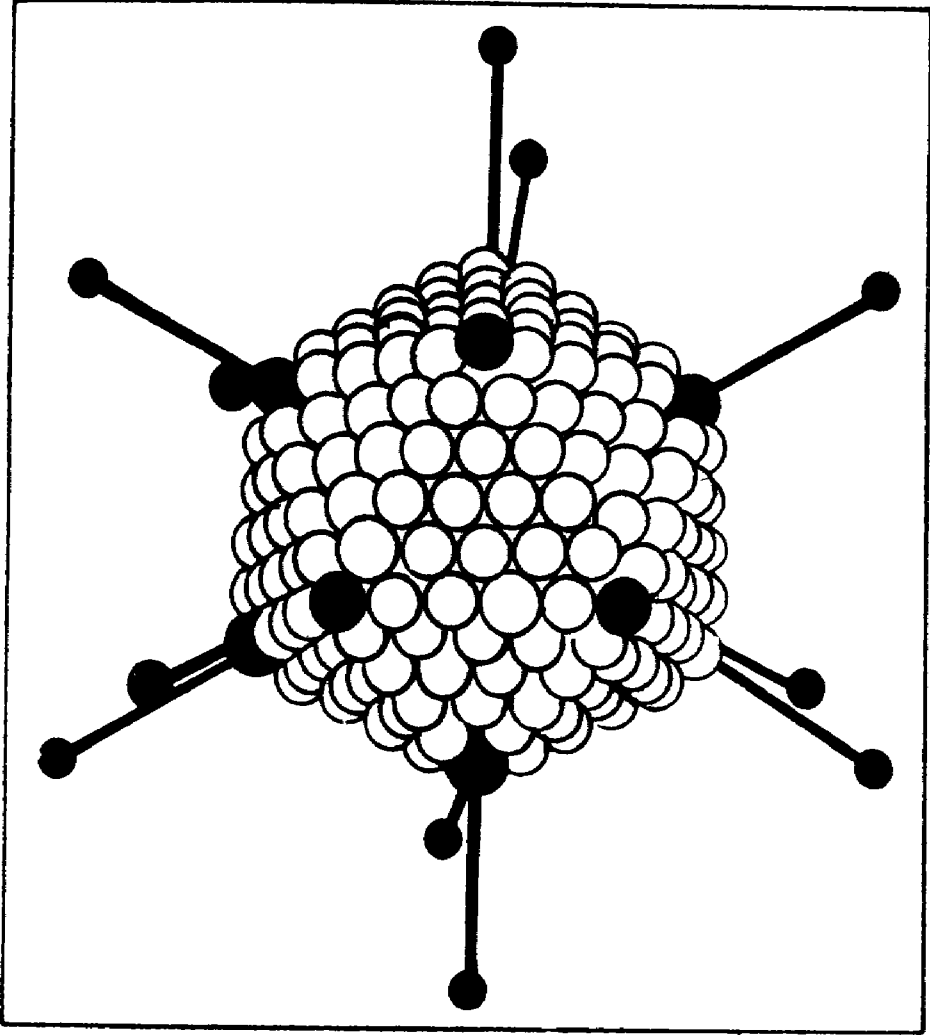
चित्र 5. एडिनोवायरस की आकारिकी। ये सर्दी-जुकाम के लिए उत्तरदायी विषाणुओं में से एक हैं।

में जुकाम का कारण है। यह बड़ों पर सामान्यतया हमला नहीं करता। यही कारण है कि वैज्ञानिक जुकाम के लिए कोई प्रभावी वेक्सीन विकसित नहीं कर पाये। जरा सोचिए, जुकाम के वेक्सीन बनाने में राइनोवायरस की 100 से अधिक और लगभग उतनी ही कोरोना और एडिनोवायरस की किस्मों का ध्यान रखना पड़ेगा। है न यह एक असाधारण कार्य !

यदि ठंड का कोई असर नहीं होता तो फिर जुकाम जाड़ों में ही ज्यादा क्यों होता है? वास्तव में, इसका कोई संतोषजनक उत्तर उपलब्ध नहीं है। इसका एक समझ में आने वाला कारण शायद यह हो कि जाड़ों में अधिकतर लोग घरों में ही रहते हैं जहां उनके विषाणु से प्रभावित होने की संभावना अधिक रहती है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि घर का वातावरण

जाड़ों में गर्म होने के कारण नाक और गले की झिल्लियों को शुष्क कर देता है, जिससे संक्रमण की संभावना बढ़ जाती है।

आइए देखें, जुकाम लगता कैसे है। अन्य संक्रामक रोगों की भांति ही यह भी किसी रोगी व्यक्ति से ही लगता है। जुकाम के रोगी की एक छींक से निकली हजारों छोटी-छोटी बूंदें विषाणुओं को 50 मील प्रति घंटे की गति से दूर-दूर तक फैला देती हैं। ये बूंदें जल्दी ही नीचे नहीं आतीं, बल्कि खतरे की तलवार की तरह वायु में लटकी रहती हैं। जैसे ही कोई व्यक्ति उस हवा में सांस लेता है, ये विषाणु उसकी नाक की झिल्ली पर जमा होकर सक्रिय हो जाते हैं। पहले वे नासिका झिल्ली की कोशिकाओं में प्रवेश कर विभाजित होना आरंभ कर देते हैं। कुछ घंटे बीतते-बीतते कोशिका विषाणुओं से भर जाती है। फिर वह फट कर सभी विषाणुओं को अन्य स्वस्थ कोशिकाओं पर आक्रमण करने के लिए मुक्त कर देती है। यह कुचक्र इसी प्रकार चलता रहता है। 48 से 96 घंटे बाद नासिका झिल्ली की कोशिकाएं इस स्तर तक नष्ट हो जाती हैं कि उन्हें शरीर से बाहर निकलना अनिवार्य हो जाता है। नाक में स्थित स्रावी कोशिकाओं से स्राव अधिक मात्रा में होने लगता है जिससे नष्ट हुई कोशिकाएं बहकर बाहर निकल जाती हैं। जुकाम में यही प्रक्रिया 'नाक बहना' कहलाती है। विषाणु गले की नाजुक कोशिकाओं को भी नष्ट करता है जिससे हमें गले के पिछले हिस्से में असुविधा महसूस होती है और इससे खांसी भी शुरू हो जाती है। सौभाग्य से ये कोशिकाएं पुनः बन जाती हैं और कोई स्थायी हानि नहीं हो पाती। चूंकि नाक और गले की झिल्ली पर असर डालने में विषाणु को दो से चार दिन लगते हैं, अतः इस अवधि में पहले जुकाम के लक्षण दिखाई नहीं पड़ते। इस अवधि को उद्भवन काल (इन्क्यूबेशन पीरियड) कहते हैं और यह सामान्यतः सभी जीवाणु और विषाणु-जनित रोगों में होता है। कोई भी जीवाणु या विषाणु रोगी को एकदम बीमार नही करता। उसे बीमारी पैदा करने से पहले रोगी के शरीर में अपने [illegible] लगातार बढ़ाना पड़ता है। रेबीज विषाणु का उद्भवन काल सबसे अधिक होता है जो कभी-कभी रोग प्रकट करने में दो वर्ष तक का समय लगाता है, अर्थात् पागल कुत्ते के काटने से रोगी में आने के बाद इस विषाणु को रोग के लक्षण पैदा करने में दो वर्ष तक का समय भी लग सकता है। जिस व्यक्ति में विषाणु प्रवेश कर जाता है वह स्वयं ही इसे दूसरों में फैलाने का स्रोत बन जाता है। उसकी छींक से निकले विषाणु फिर नये शिकार की तलाश में लग जाते हैं और यह चक्र चलता रहता है।

वैज्ञानिक अभी यह नहीं जान पाये हैं कि सात से दस दिनों के अंदर जुकाम स्वतः ही ठीक क्यों हो जाता है। अनुमान लगाया जाता है कि संभवतः इस अवधि में नाक की कोशिकाएं इतनी बुरी तरह नष्ट हो जाती है कि विषाणुओं के ठहरने के लिए कोई जगह नहीं रह जाती। यह भी मान्यता है कि इतने समय में शरीर विषाणुओं से लड़ने के लिए पर्याप्त मात्रा में प्रतिपिंड निर्मित कर लेता है। कारण कुछ भी हो, विषाणु जैसा करते हैं वैसा भरते हैं।

सामान्यतया जुकाम से पीड़ित होते ही आप अपने मित्रों से कहेंगें, "मुझे फ्लू हो गया है।" पर यह धारणा गलत है। फ्लू और जुकाम पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। 'फ्लू' वास्तव में इन्फ्लुएंजा शब्द का संक्षिप्त नाम है जो एक अलग प्रकार के विषाणु ओर्थोमिक्सोवायरस (यूनानी भाषा में अर्थ—श्लेष्मा विषाणु) के कारण होता है। हां, फ्लू के भी ठीक वही लक्षण होते हैं जो जुकाम के होते हैं। अंतर केवल इतना है कि फ्लू अचानक हो जाता है और लक्षण भी कुछ अधिक तीव्र होते हैं। फ्लू इतनी तेजी से होता है (कुछ ही मिनटों में) कि रोगी को स्वयं बड़ा आश्चर्य होता है कि अभी-अभी तो वह ठीक था। जुकाम की तरह यह भी हानिरहित रोग है परंतु कभी-कभी बच्चों और वृद्धों के लिए यह घातक सिद्ध होता है। यह छूत की बीमारी है और बड़ी तेजी से फैलती है। दो-चार वर्षों के अंतराल में किसी विशेष समुदाय में महामारी के रूप में फ्लू के फैलने की घटनाएं ज्ञातव्य हैं। अंतिम गंभीर महामारी (संसार के अधिकांश भागों में फैलने वाली) के रूप में फ्लू सन् 1918-19 के दौरान फैला था, जब लगभग 1 करोड़ 50 लाख व्यक्तियों को अपनी जान गंवानी पड़ी थी। एक बार तो यह रोग इस सीमा तक पहुंच गया कि उसे अपने यहां की बीमारी कहने को कोई देश तैयार नहीं था। रूस वाले उसे 'चीनी बीमारी', जर्मनी वाले उसे 'रूसी रोग', इटली निवासी उसे 'जर्मन बीमारी' तथा अमेरिकावासी उसे 'हांगकांग का फ्लू' के नाम से पुकारते थे। नामकरण के बारे में इसी तरह का व्यवहार मिला था एक
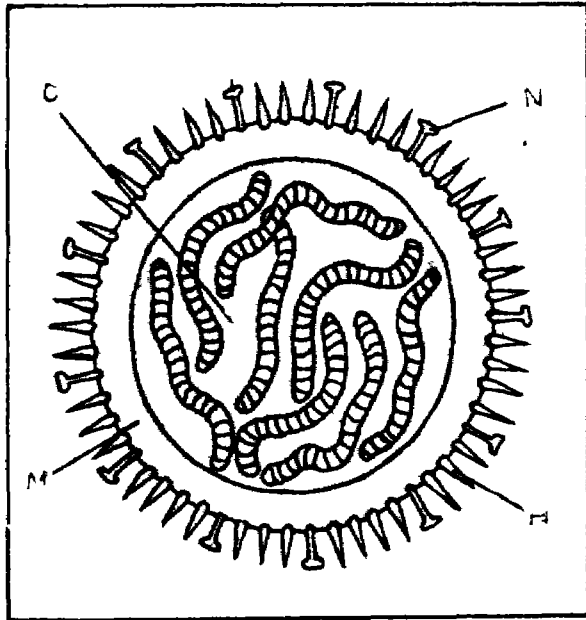
चित्र-6. इन्फ्लुएंजा विषाणु का चित्रात्मक प्रदर्शन (इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी द्वारा)। H- हीमेग्लुटेनिन, N- न्यूरेमिनिडेज, C- कोर, आर.एन.ए. के आठ सूत्रों सहित, M- मेम्ब्रेन प्रोटीन।

अन्य रोग उपदंश (सिफलिस) को। इंग्लैंड में इसे 'फ्रांसिसी बीमारी' तथा फ्रांस में 'अंग्रेजी बीमारी' के नाम से पुकारा जाता था। कुछ लोगों का विचार था कि इन्फ्लुएंजा ग्रहों और नक्षत्रों के बुरे प्रभाव (इन्फ्लुएंस) के कारण होता है, इसीलिए इसका यह नाम रखा गया है।

जुकाम ऐसा रोग है जिसके इलाज के बारे में हर व्यक्ति आपको सलाह देगा। यूं तो जुकाम के लिए हजारों दवाइयां बताई जाती हैं, परंतु सफल कोई भी नहीं है। कहते हैं, दवा लेने पर जुकाम सात दिन में ठीक हो जाता है और बिना दवा के एक सप्ताह में। अमेरिका के प्रख्यात हास्य-लेखक रॉबर्ट बेन्चले (1889-1945) कहते थे, "अगर आपको लगे कि आप जुकाम से पीड़ित हैं तो तीन अच्छे डाक्टरों को बुलाइये और उनके साथ ब्रिज खेलिये।" इस कथन में जुकाम के अप्रभावी उपचार को लेकर कितनी निराशा झलकती है।

किसी अन्य रोग की तुलना में जुकाम के उपचार से संबंधित अनेकों मिथ्या धारणाएं हैं। प्राचीन काल में लोगों की अपनी अलग औषधियां थीं। यूनानी इसे 'बहा कर निकालने' में विश्वास रखते थे, जबकि रोमन इतिहासकार प्लिनी-द-यंगर इसका उपचार 'चूहे की मूछोंभरी थूथन चूमना' मानते थे। आधुनिक काल की गलत धारणा है जुकाम को रोकने या ठीक करने के लिए बड़ी मात्रा में विटामिन 'सी' लेना। हां, इसमें कोई संदेह नहीं कि कुपोषण तथा विटामिन 'सी' की कमी (स्कर्वी) से जीवाणु द्वारा संक्रमण की संभावना बढ़ जाती है। फिर भी, इस बात का कोई ठोस वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है कि सामान्य से अधिक विटामिन 'सी' लेने से जुकाम को रोका जा सकता है। 'विटामिन सी सिद्धांत' को सन् 1970 में उस समय प्रोत्साहन मिला जब नोबल पुरस्कार विजेता लाइनस पालिंग ने इसे स्वीकारा और लोकप्रिय बनाया। बाद में किये गये अनुसंधानों ने सिद्ध किया है कि विटामिन 'सी' में ऐसी कोई क्षमता नहीं है। यह भी पता चला कि जो थोड़ा-बहुत लाभ कम मात्रा में विटामिन 'सी' लेने में है, वही अधिक मात्रा में लेने में भी है।

इस बात का भी सुझाव दिया गया है कि शारीरिक स्वस्थता जुकाम से बचाव के लिए आवश्यक है। अतः व्यायाम, स्वच्छ वायु में टहलना और प्राकृतिक भोजन का सेवन महत्वपूर्ण है। जुकाम लगने की संभावना तथा उसके लक्षणों की गहनता निश्चित रूप से किसी भी व्यक्ति की स्वास्थ्य संबंधी आदतों पर निर्भर करती हैं। उदाहरण के लिए धूम्रपान करने वालों में जुकाम के लक्षण, विशेषतौर पर खांसी, दीर्घकालीन होते हैं। इसलिए यह विश्वास बिल्कुल सत्य है।

एक अन्य प्रचलित मिथ्या धारणा है कि शराब (अलकोहल) से जुकाम ठीक हो जाता है। कहते हैं कि पुराने दिनों में इंग्लैंड में जुकाम के रोगी इसके उपचार की आशा में सोने से पूर्व, तब तक जिन नामक शराब पीते रहते थे जब तक कि पलंग के समीप टंगे उनके एक हैट की जगह दो नहीं दिखाई देने लगते थे। सूक्ष्मजीवी वैज्ञानिक सर अलेक्जेंडर फ्लेमिंग (1881-1955) से जब जुकाम का इलाज पूछा गया तो उन्होंने कहा, "सोने से पूर्व पर्याप्त मात्रा में गर्म व्हिस्की लेने से लाभ होता है, हालांकि इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है।"

वास्तविकता यह है कि जुकाम का तीव्र हमला होने पर रोगी को बहुत बेचैनी होती है। शराब पीने से अच्छी नींद आने में उसे मदद अवश्य मिलती है पर इसका जुकाम के विषाणुओं से कुछ लेना-देना नहीं है। बार्टलेट की पुस्तक 'अनफेमीलियर कोटेशंस' भं जेरी वेल ने ठीक ही कहा है, "व्हिस्की उन सभी औषधियों में सबसे अधिक लोकप्रिय है जिससे जुकाम ठीक नहीं होता।"

दूसरी सलाह जो रोगी को आमतौर पर दी जाती है वह है अधिक से अधिक तरल पदार्थों, विशेषकर गर्म पेयों के सेवन के बारे में। इनका भी इस रोग की अवधि पर कोई प्रभाव नहीं होता। हां, रोगी को इनसे आराम अवश्य मिलता हैं। गर्म चाय, लेमोनेड या सूप से बंद नाक खुल जाती है और गले की खराश से राहत मिलती है। कुछ लोग चूजे के शोरबे की सिफारिश करते हैं जबकि यह भी अन्य शोरबों की तरह ही है। कई रोगी जुकाम के लिए शक्तिशाली एंटीबायोटिक (जैसे टेट्रासाइक्लिन, आदि) लेते हैं। उनकी मान्यता रहती है, जो ठीक भी है, कि जुकाम से शरीर की जीवाणुओं से लड़ने की क्षमता कम हो जाती है। टेट्रासाइक्लिन का विषाणुओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, पर वे संभावित जीवाणु संक्रमण को रोकना चाहते हैं। दुर्भाग्य से यह ठीक सी लगने वाली धारणा गलत है। एंटीबायोटिक लेने से केवल यही बात स्पष्ट होती है कि यदि कोई अनुगामी संक्रमण हो जाता है तो वह उन जीवाणुओं के कारण होता है जो उस प्रतिजैवी से प्रतिरोधी हैं। अतः कुशल रणनीति यह है कि इस प्रकार के संक्रमणों को रोकने का पहले से प्रयत्न न किया जाये बल्कि संक्रमण होने के पश्चात् तुरंत ही उसका उपचार एंटीबायोटिक की पूरी खुराक के साथ किया जाये।

बीसवीं शताब्दी में घरेलू नुस्खों की जगह जुकाम की कई आम दवाइयों ने ले ली है। इनमें से कोई भी इसका इलाज नहीं कर सकती, केवल कुछ दवाएं कष्टदाय लक्षणों को जरूर दूर कर देती हैं। उदाहरण के लिए, एस्पिरिन और एसिटामिनोफेन दर्द से छुटकारा दिला देती हैं और बुखार को कम कर देती हैं। एंटीहिस्टामिन औषधियां नाक की रुकावट को साफ कर बहते द्रव को सुखाती हैं। कोडीन फास्फेट खांसी को शांत करती है तथा रात की सूखी खांसी से राहत दिलाती है। इन औषधियों के कई कीमती नुस्खे आज बाजार में उपलब्ध हैं परंतु वे किसी भी प्रकार एस्पिरिन और एंटीहिस्टामिन की गोलियों से ज्यादा कारगर नहीं हैं। इसके साथ-साथ भाप में सांस लेने से भी बंद नाक खुल जाती है।

यदि आप अपनी बंद नाक खोलना चाहते हैं तो नाक को जोर लगाकर छिनकिये मत। कान के आंतरिक भाग को गले के पिछले भाग से जोड़ने वाली एक पतली सी नली होती है। नाक को जोर से साफ करने पर गले के अंदर का संक्रामक पदार्थ अनजाने ही कान के जीवाणुरहित भाग को प्रभावित कर सकता है। इससे पैदा हुए गंभीर संक्रमण का उपचार बड़ी मुश्किल से होता है।

बच्चों की नाक में इकट्ठी हुई श्लेष्मा चित्र 7 अ में दिखाये अनुसार किसी बिना सुई वाली
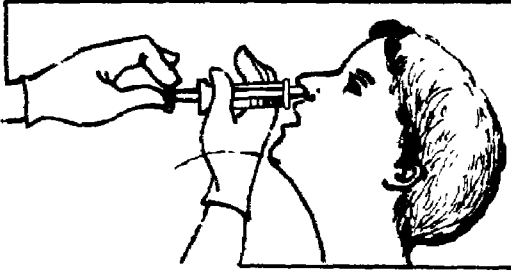
चित्र 7 अ
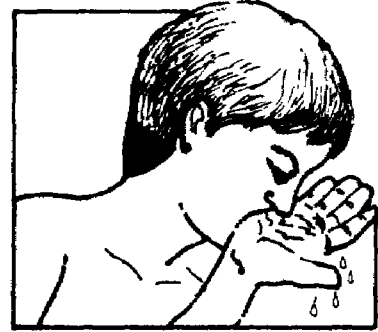
चित्र 7 ब

चित्र 7 स

सिरिंज या चूषक यंत्र के द्वारा सावधानी से निकाली जा सकती है। बड़ी आयु के बच्चों या वयस्कों में यह कार्य थोड़ा सा नमक मिला पानी नाक के द्वारा ऊपर खींचकर किया जा सकता है (चित्र 7 ब)। इससे श्लेष्मा ढीली हो जाती है। सादे पानी का उपयोग भी किया जा सकता है।

अगर आपकी नाक बिल्कुल बंद है तो नाक को खोलने वाली बूंदों जैसे कि फिनाइलेफ्रिन का प्रयोग करें (चित्र 7 स)। एक ओर गर्दन झुकाकर नथुने के निचले भाग में दवा की दो या तीन बूंदें डालें। कुछ मिनटों बाद यही क्रिया दूसरे नथुने में दुहरायें। इस दवा को दिन में तीन बार से अधिक और तीन दिन से ज्यादा इस्तेमाल न करें। ध्यान रहे, ड्रापर नथुने से छूना नहीं चाहिए।
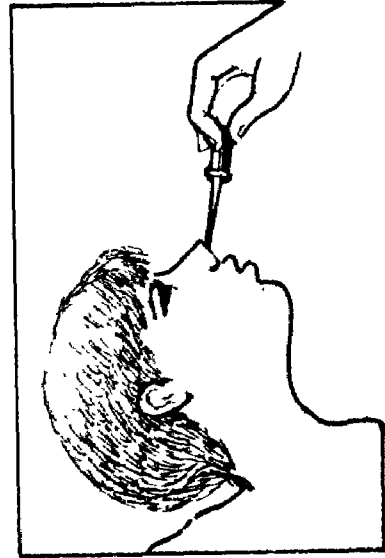
स्मरण रहे कि ये औषधियां केवल लक्षणों से छुटकारा दिलाने के लिए हैं, ये जुकाम को न ठीक करती हैं और न उसकी अवधि को कम। किसी ने ठीक ही कहा है, "जल्दी से ठीक हो जाइये" की कामना मात्र से जुकाम ठीक नहीं होता, परंतु इसका कम से कम उतना लाभ अवश्य है जितना हमें डाक्टरों से होता है।

*"नहीं प्रिये ! मैंने शराब को हाथ भी नहीं लगाया।
मेरी आंखें इसलिए लाल हैं क्योंकि
मुझे नेत्रदाह हो गया है।"*

नेत्रदाह

जीवन में कभी न कभी नेत्रदाह सभी को होता है। इसके कई कारण हैं, पर यह सबसे अधिक आंख की सफेदी वाले हिस्से, जिसे नेत्रश्लेष्मा (कंजंक्टाइवा) कहते हैं, की नाजुक झिल्ली में प्रदाह के कारण होता है।

आंखें शरीर के सबसे नाजुक अंगों में से एक हैं और उनका बचाव निस्संदेह सबसे ज्यादा आवश्यक है। यह इसलिए और भी जरूरी हो जाता है क्योंकि बाह्य पदार्थों, जैसे धुआं और धूल के साथ उनका सदैव संपर्क रहता है। प्रकृति ने आंख के अगले भाग में एक पारदर्शी, नाजुक झिल्ली लगाई है। यदि आप शीशे में अपनी आंखें देखें तो आपको आंखों के मध्य में एक काले बटन के आकार का गोला दिखाई देगा। इसे स्वच्छमंडल (कॉर्निया) कहते हैं। यह वास्तव में पारदर्शक होता है और इसका अपना कोई रंग नहीं होता। फिर भी यह काला इसलिए दिखाई देता है क्योंकि इसके पीछे एक काले रंग का पर्दा, जिसे आइरिस कहते हैं, लगा होता

है। यदि आप ध्यानपूर्वक बटन जैसे काले गोले के मध्य में देखें, तो आपको पिन के मोटे सिरे के आकार का एक अन्य काला बिंदु दिखाई देगा। यही पुतली (प्यूपिल) है जिससे होकर प्रकाश आंखों में प्रवेश करता है।

मध्य के काले घेरे के अलावा आंखों का बाकी भाग सफेद नजर आता है। इसे श्वेत-पटल (स्क्लीरा) कहते हैं। यही वह भाग है जो पतली और नाजुक नेत्रश्लेष्मा से ढंका रहता है। यदि आप प्याज को छीलकर उसमें से एक पतली सी झिल्ली निकाल सकें तो उसे देखकर आपको नेत्रश्लेष्मा के पतलेपन और बनावट का अनुमान हो जायेगा। यह झिल्ली आंखों की सफेदी और उसके ऊपरी और निचले भाग को ढंके रहती है। इसके ऊपरी और निचले भाग क्रमशः ऊपरी और निचली पलकों तक फैले रहते हैं (चित्र 8.)। वास्तव में नेत्रश्लेष्मा आंखों के गोले को पलकों से जोड़ती है। शायद इसी कारण इसका नाम कंजंक्टाइवा रखा गया है। लैटिन में कन का अर्थ है 'साथ-साथ' और जुंगों का 'मैं जोड़ता हूं।' अतः पूरे शब्द का अर्थ हुआ 'मैं साथ-साथ जोड़ता हूं।'

नेत्रश्लेष्मा चौकीदार की तरह होती है जो घुसपैठियों से घर की रक्षा करती है। अब कल्पना कीजिए, यदि हथियारों से लैस कुछ घुसपैठिये घर में घुसने का प्रयत्न करें तो चौकीदार पर क्या गुजरेगी। वह बहादुरी से आक्रामणकारियों से लड़कर घर में रहने वालों की रक्षा करेगा,
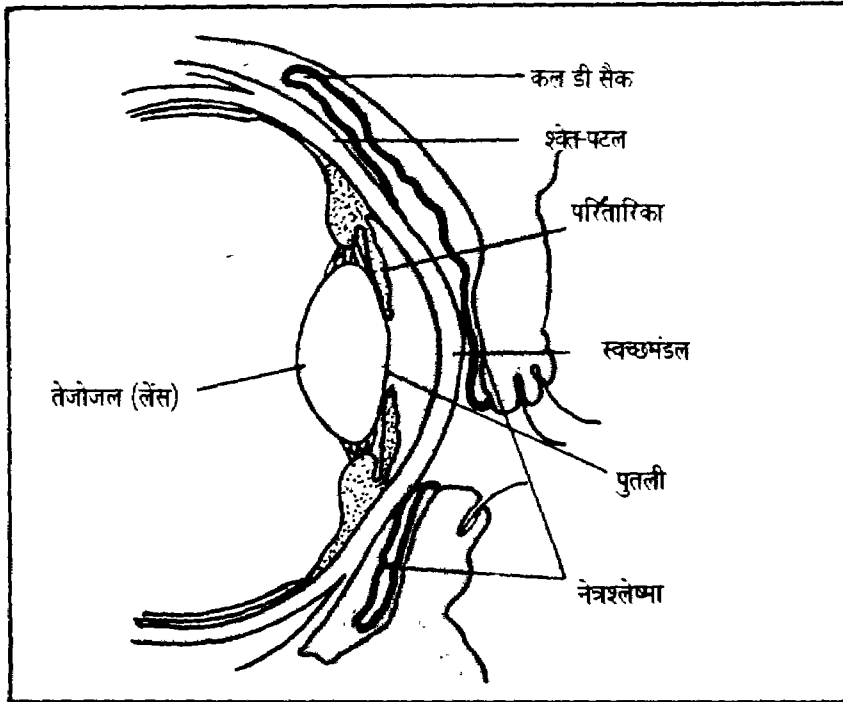
चित्र 8. नेत्रश्लेष्मा (मोटी रेखा से दिखाई गयी है)।

पर इस कार्य में वह बुरी तरह घायल भी हो सकता है। ऐसा ही नेत्रश्लेष्मा के साथ होता है, जब जीवाणु और विषाणु घुसपैठियों के रूप में आंख में घुसने का प्रयास करते हैं। आंख की तो रक्षा हो जाती है परंतु नेत्रश्लेष्मा में प्रदाह आरम्भ हो जाता है। इस स्थिति को डाक्टर नेत्रश्लेष्मा शोथ (कंजंक्टीवाइटिस) और सामान्य व्यक्ति नेत्रदाह या 'आंखें दुखनी आना' कहते हैं।

नेत्रदाह में आंखों से काफी मात्रा में पानी बहता है। आंखों को खोलने और बंद करने में होने वाले दर्द के अलावा आंखों में जलन, रड़क तथा तेज रोशनी से कष्ट होता है। रोशनी के इस प्रभाव को प्रकाश असह्यता या 'फोटोफोबिया' कहते हैं। यूनानी भाषा में इस शब्द का अर्थ है 'प्रकाश का भय'। आंखों के स्राव की जांच कर चिकित्सक यह बता सकता है कि संक्रमण जीवाणु से हुआ है या विषाणु से। यदि स्राव पानी है तो संक्रमणकारी विषाणु हैं और यदि वह गाढ़ा, मवाद जैसा चिपचिपा पदार्थ है तो उसके लिए बेक्टीरिया जिम्मेदार है।

नेत्रदाह कई प्रकार के बेक्टीरिया से होता है। सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखे जाने पर जो अंगूर की तरह दिखाई देते हैं वे बेक्टीरिया स्टैफिलोकोकाई कहलाते हैं। शायद अपनी पसंद के कारण कुछ वैज्ञानिक उनकी समानता बेरीज़ से करते हैं। वास्तव में उनका नाम अकेलेपन के कारण पड़ा है। यूनानी भाषा में 'स्टेफिले' शब्द का मतलब है 'अंगूरों का गुच्छा' तथा 'कोकोस' का अर्थ है 'एक बेरी'। सामान्य रूप से ये जीवाणु त्वचा पर फुंसियां उत्पन्न करते हैं परंतु जब उनका आक्रमण आंखों पर हो जाता है तो उनमें भयंकर जलन होने लगती है। फोड़े-फुंसी वाला व्यक्ति आमतौर पर उन्हें खुजलाता है और जैसे ही वह इसी हाथ से अपनी आंख को रगड़ता है तो जीवाणु आंख में प्रवेश कर जाते हैं। किसी संक्रामित व्यक्ति के तौलिए या रूमाल का उपयोग करने से भी नेत्रदाह हो जाता है। अतः कभी दूसरे व्यक्ति का तौलिया या रूमाल प्रयोग में न लायें। यदि आपके शरीर पर कहीं फोड़ा है तो उसका उपचार भी इसके साथ करना चाहिए वरना छूत की यह बीमारी बार-बार होती रहेगी।

अन्य जीवाणु जिनसे यह रोग होता है सूक्ष्मदर्शी में छड़ या डंडे की तरह दिखाई देते हैं। इन्हें 'बेसिलाई' कहते हैं जो लैटिन शब्द 'बेकुलस' अर्थात् 'छड़' से निकला है। इस रोग को फैलाने वाला सामान्य बेसिलस 'कॉच-वीक्स बेसिलस' कहलाता है क्योंकि इसे बर्लिन के सूक्ष्म जीवविज्ञानी राबर्ट कॉच तथा न्यूयार्क के नेत्रविज्ञानी जान एलर वीक्स ने मिलकर खोजा था। यह बेसिलस अत्यंत छूत वाला नेत्रदाह, एपिडेमिक कंजंक्टीवाइटिस, फैलाता है। यह प्रायः रेतीले, अर्ध-उष्णकटिबंधी देशों, जैसे भारत में अधिकतर पाया जाता है। यह स्कूलों व अन्य संस्थाओं में भी आमतौर पर विद्यमान रहता है।

एक अन्य गंभीर प्रकार का नेत्रदाह 'निसेरिया गनोरिया' नामक बेक्टीरिया के द्वारा उत्पन्न होता है। देखने में यह जीवाणु चपटे गोले या जूड़े जैसा दिखाई देता है। ये हमेशा जोड़े में होते हैं। सूक्ष्मदर्शी से देखने पर लगता है मानों बहुत सारे हैमबर्गर मैदान में बिखरे पड़े हों। अलबर्ट

लुडविग सिगमंड निसेर (जन्म 1855) नामक त्वचाविज्ञानी से इसकी खोज की थी; अतः नाम का प्रथम भाग निसेरिया कहलाया। (ध्यान देने योग्य बात है कि हमारे नामों की भांति ही जीवाणुओं के नामों के भी दो भाग होते हैं– प्रथम एवं द्वितीय। जहां व्यक्तियों में द्वितीय नाम उनके सामान्य वर्ग को प्रदर्शित करता है, वहीं जीवाणुओं में यह कार्य नाम के प्रथम भाग द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हम संजीव गुप्ता और राजीव गुप्ता के बारे में विचार करें, तो नाम का द्वितीय भाग, गुप्ता उनकी जाति को प्रदर्शित करता है और प्रथम भाग—संजीव और राजीव उनकी विशेष व्यक्तिगत पहचान है। इसके विपरीत जीवाणुओं जैसे निसेरिया गनोरियाई तथा निसेरिया मेनिनजाइडिसिस में पहला नाम निसेरिया उनकी सम्मिलित जाति है, और दूसरा नाम सुजाक जैसा भंयकर रोग पैदा करने वाला, गनोरियाई तथा मेनिनजाइटिस नामक भयंकर रोग पैदा करने वाला, मेनिनजाइडिसिस। रोचक तथ्य यह है कि गनोरिया पैदा करने वाले जीवाणु निसेरिया का नामकरण इसके खोजी वैज्ञानिक के अंतिम में नाम से जुड़ा है)।

गनोरियाई बेक्टीरिया से उत्पन्न होने वाला नेत्रदाह बहुदा गनोरिया से संक्रामित व्यक्तियों में ही होता है। गनोरिया या सुजाक वह रतिज रोग है जिसमें स्त्री-पुरूष की जननेंद्रियों से बड़ी मात्रा में मवाद निकलता है। इसी मवाद में मौजूद बेक्टीरिया से आंखों में बीमारी लगती है। अधिकतर दाह पहले दाई आंख में होता है (अक्सर व्यक्ति अपनी दाईं आंख को दाएं हाथ से रगड़ते हैं) और फिर बाई आंख तक आ जाता है। यह नेत्रदाह अत्यंत घातक है और कभी-कभी यदि ठीक ओर जल्दी उपचार न किया जाये तो रोगी को अंधा भी कर सकता है। इसमें आंखे लाल होकर सूज जाती हैं और भयंकर पीड़ा होती है। आंखें खोलना मुश्किल हो जाता है और उनसे पीव बहने लगता है। रोगी के गुप्तांगों को देख चिकित्सक आसानी से रोग को पहचान लेता है क्योंकि उसके गुप्तांग भी इससे संक्रामित होते हैं।

यदि गनोरिया से पीड़ित कोई महिला शिशु को जन्म देती है तो प्रसव के समय शिशु इस जीवाणु से संक्रामित हो सकता है। इस प्रकार होने वाला नेत्रदाह अत्यंत तेजी से बढ़ने वाला किंतु वयस्क व्यक्तियों जैसा ही होता है, पर दोनों आंखों में एक साथ संक्रमण होने के कारण यह थोड़ा भिन्न होता है। इस रोग को 'आफ्थैल्मिया नियोनेटोरम' कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'नवजात का नेत्रदाह'। एक समय यह रोग बच्चों में अंधेपन का मुख्य कारण था, परंतु चिकित्सा में प्रगति के कारण यह रोग कम हो गया है। आजकल हर गर्भिणी की संभावित रतिज रोग संबंधी जांच की जाती है, और संक्रामित होने पर उचित एंटीबायोटिक दवाओं से उसका उपचार किया जाता है।

मुद्गर की आकृति वाला तथा डिफ्थीरिया के लिए जिम्मेदार एक अन्य जीवाणु से भी नेत्रदाह हो सकता है। यह अक्सर उन बच्चों को अधिक होता है जिन्हें डिफ्थीरिया के विरुद्ध प्रतिरक्षित न किया गया हो। नेत्रदाह का यह प्रकार भी बड़ा खतरनाक है और तत्काल इलाज न किये जाने पर समस्याएं पैदा कर सकता है।

विषाणुओं अथवा वायरस द्वारा नेत्रदाह आमतौर से हर्पीज़वायरस तथा एडिनोवायरस से होता है। पिछले अध्याय में हम एडिनोवायरस का वर्णन कर चुके हैं। हर्पीज़वायरस वास्तव में त्वचा पर रेंग कर बढ़ने वाले संक्रमणों के लिये उत्तरदायी है (यूनानी शब्द 'हर्पो' का अर्थ है 'मैं रेंगता हूं')। इनके द्वारा त्वचा पर फफोले और दाग पड़ जाते हैं। हर्पीज़वायरस दो प्रकार के होते हैं — टाइप-1, जिससे छोटे दाग पड़ते हैं और टाइप-2 जिससे पड़ने वाले दाग बड़े होते हैं। नेत्रदाह सदैव टाइप-1 हर्पीज़वायरस से होता है। इससे होने वाले नेत्रदाह में कभी-कभी स्वच्छमंडल पर जख्म हो जाते हैं और परिणामस्वरूप दृष्टिदोष आ जाता है।

आश्चर्य तो यह है कि नेत्रदाह एक तीसरे प्रकार के जीव समूह द्वारा भी हो सकता है जो न जीवाणु हैं और न विषाणु। इन मध्यवर्गी जीवों को क्लेमाइडिया कहते हैं। एक आवरण से ढंका हुआ लगने के कारण यह नाम दिया गया है (यूनानी शब्द 'क्लेमाइस' का अर्थ है 'आवरण')। ये जीवाणुओं की तुलना में काफी छोटे हाते हैं, लेकिन विषाणुओं से काफी बड़े। उनमें इन दोनों के गुणों का समावेश होता है। वे जीवाणुओं की तरह विभक्त होकर बहुगुणित (गणितिज्ञ कृपया क्षमा करें।) होते हैं और विषाणुओं की भांति कोशिका के अंदर ही विकसित होते हैं। यद्यपि वे विषाणुओं और जीवाणुओं के मध्य की 'खोई हुई कड़ी' जैसे लगते हैं परंतु यह सत्य नहीं है। उनके द्वारा आंखों में रोहे (ट्रेकोमा) उत्पन्न हो जाता है जो एक प्रकार का चिरकालिक नेत्रदाह है। यदि इसका जल्दी इलाज न किया जाये तो मरीज को सालों कष्ट देता है। रेत से इसका इतना अधिक संबंध है कि कभी इसे 'इजिप्शियन आफ्थैल्मिया' कहते थे। यह पुरातन काल से मध्यपूर्वी देशों में स्थानिक बीमारी के रूप में रहा है और नेपोलियन के जमाने में फ्रांसिसी सेनाओं ने इसे यूरोप में सुदूर तक फैलाया। यह आज भी विश्व के अनेकों भागों, विशेष रूप से पूर्वी व मध्य यूरोप, मध्य-पूर्वी, मध्य एवं पूर्वी एशिया (ईरान, भारत, चीन) इंडोनेशिया, प्रशांत महासागर द्वीप समूह, उत्तरी एवं मध्य अफ्रीका, मध्य एवं दक्षिणी अमेरिका के बड़े हिस्से में पाया जाता है। एक अनुमान के अनुसार विश्व की लगभग पांचवे हिस्से के बराबर जनसंख्या इस रोग से पीड़ित है तथा किसी अन्य रोग की तुलना में इससे सबसे अधिक व्यक्ति अंधे होते हैं।

रोहों के प्रसार में अस्वास्थ्यकर परिवेश का बड़ा स्थान है। इसके बचाव का प्रथम चरण है—स्वच्छता। यह रोग अत्यत छुतहा है तथा यह संक्रामित उंगलियों, वस्त्रों जैसे तौलिए, रूमाल आदि के द्वारा एक से दूसरे तक पहुंचता है। मक्खियां इसे सबसे अधिक फैलाती हैं। अतः धूल और गंदगी को फैलने से रोकना आवश्यक है। इससे मक्खियों पर नियंत्रण रहेगा।

सामान्यतः रोहे की शुरुआत पानी भरी लाल आंखों से होती है जैसाकि साधारण नेत्रदाह में होता है। लगभग एक महीने बाद ऊपरी पलकों के अंदर की ओर हल्के लाल रंग के दाने उभर आते हैं जिन्हें 'फॉलिकिल' कहते हैं (चित्र 9.)। गौर से या आवर्धक लैंस से देखने पर स्वच्छमंडल का ऊपरी सिरा धूसर दिखाई देगा क्योंकि उसमें कितनी ही छोटी-छोटी नयी रक्त

वाहिनियां होती हैं। इसे पैनस कहते हैं। फॉलिकिल और पैनस की एक साथ उपस्थिति से रोहे होना निश्चित है। कुछ वर्षों बाद फॉलिकिल सफेद व्रण चिह्न छोड़ते हुए मिट जाते हैं। व्रण चिह्नों से पलकें मोटी हो जाती हैं। वे पलकों के बालों को आंख के अंदर की ओर खींचते हैं, जिससे स्वच्छमंडल पर खरोंचें पड़ जाती हैं और रोगी अंधा हो सकता है (चित्र 9.)। अतः इस रोग का आरंभिक अवस्थाओं में ही उपचार करना परमावश्यक है।

अब तक हम संक्रमण द्वारा होने वाले नेत्रदाह की बात कर रहे थे। वास्तव में नेत्रदाह एलर्जी के कारण भी हो सकता है, जिसका वर्णन पहले अध्याय में किया गया था। एलर्जी का कारण कुछ भी हो सकता है – परागकण, सौंदर्य प्रसाधन, कुत्ते-बिल्लियां, या फिर रेशे। इसके लक्षण भी संक्रमण-जनित नेत्रदाह जैसे ही होते हैं, अर्थात्, खुजली, आंखों में जलन, लालिमा
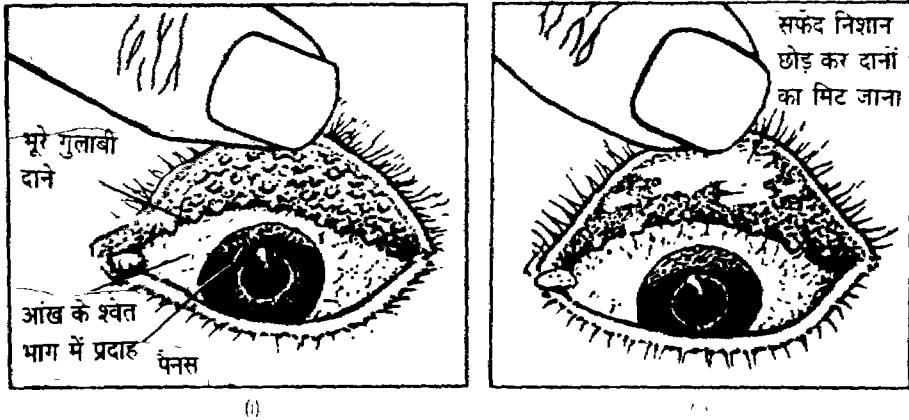
चित्र 9. अ. ट्रेकोमा में आंख की स्थिति–(1) पहले (2) बाद में
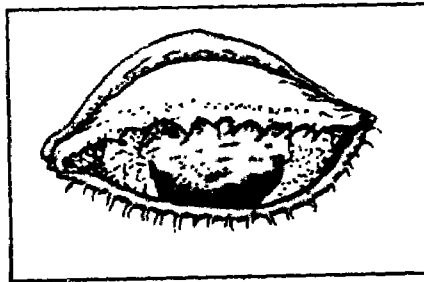
चित्र 9. ब. ट्रेकोमा की काफी बाद की अवस्था। पलकें आंखों में खिंचकर स्वच्छमंडल पर घाव कर देती हैं और रोगी को अंधा कर सकती हैं।

तथा तीव्र वेदना।

इसका उत्तम उपचार एलर्जी के कारण का निवारण है, परंतु यह कठिन ही नहीं, असंभव है। पहले तो एलर्जी का कारण ढूंढ़ना ही कठिन है, और अगर वह मिल भी जाये तो उसके एलर्जन को रोगी दूर करना पसंद नहीं करेगा – जैसे अपने पालतू जानवर को, जिसके बाल एलर्जन का काम कर रहे हों।

नेत्रदाह का तीसरा बड़ा कारण है रासायनिक पदार्थ जिनसे उत्पन्न रोग 'रासायनिक' या 'विषाक्त नेत्रदाह' कहलाता है। यह बाहरी वातावरण में मौजूद उत्तेजक पदार्थों से होता है। धूल और धुआं उन्हीं में से हैं। अधिक गर्मी से भी नेत्रदाह हो जाता है। बोलचाल की भाषा में इन कारणों को 'धूल, धूप और धुआं' कहा जाता है। हानिकारक गैसों तथा स्वीमिंग-पूलों में प्रयोग होने वाली क्लोरीन से भी यह रोग हो सकता है। एलर्जी की भांति ही इसका बढ़िया उपचार उत्तेजक पदार्थों से बचाव है। अगर ऐसा संभव न हो पाये तो आंख मे डालने की दवा का प्रयोग करना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि आप किसी कारखाने में कार्य करते हैं जहां आपको जलन पैदा करने वाली गैसों के मध्य्य रहना पड़ता है, या फिर आप जिस इलाके में रहते हैं वह धुंध-कोहरे से भरा रहता है, तो आंख में डालने की दवा, जिसे कृत्रिम अश्रु कहते हैं, बड़ी लाभदायक रहेगी। यदि तैरने के पानी मे क्लोरीन की मात्रा अधिक है तो तैरते समय चश्मा लगाएं।

नेत्रदाह से बचाव ही सर्वोत्तम है। संक्रमण-जनित नेत्रदाह का सबसे अच्छा बचाव स्वच्छता तथा उचित स्वास्थ्य-रक्षा है। एलर्जी या रसायनों से होने वाले रोग की स्थिति में समस्या के स्रोत को पहचानकर दूर करना चाहिए। यदि इन सब सावधानियों के बाद भी नेत्रदाह हो जाये तो रोग के पहले लक्षण, अर्थात् आंख लाल होने पर ही, चिकित्सक से संपर्क करें। स्वास्थ्य-रक्षा के बारे में एक पुरानी भारतीय कहावत है : नित्य करो स्नान जरूर, बीमारी रहे तुमसे दूर। सच्चाई तो यह है कि नेत्रदाह ही क्या, कोई भी संक्रामक रोग, पूरी स्वास्थ्य-रक्षा का अनुसरण करने पर आपके पास फटकेगा भी नहीं।
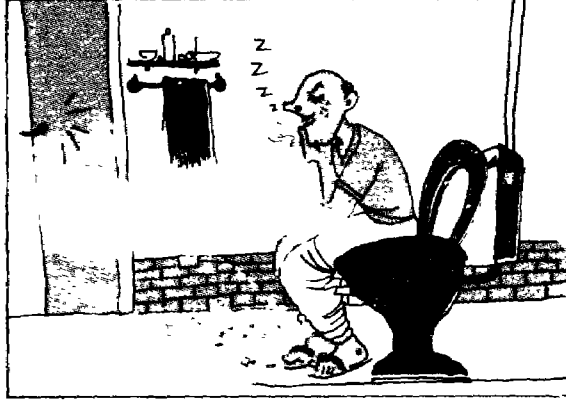
"मेरा आधा जीवन इसी जगह बीत गया।"

कब्ज

पाश्चात्य लोगों के विपरीत एक आम भारतीय का दिन शौचालय से आरंभ होता है। ज्यादातर वह अपना दैनिक समाचारपत्र भी साथ ही ले जाता है और उसके पास इतना समय होता है कि वह उसे पूरी तरह देख सके। प्रातः शौच के प्रति उसकी इतनी ललक रहती है कि यदि किसी कारणवश वह ऐसा न कर पाये तो पूरा दिन वह उदास और चिंतित रहेगा। कुछ व्यक्ति, विशेषकर अधिक आयु वाले तो इतने अधिक विरेचकों का उपयोग इस आशंका से करते है कि कहीं कुछ अनहोनी न हो जाये। इसकी तुलना एज्टेक जाति के लोगों से की जा सकती है जो नित्य सूर्य भगवान की पूजा में जिंदा आदमी का दिल अर्पित किया करते थे कि कहीं वे अप्रसन्न होकर दूसरे दिन उदय ही न हों।

आमतौर पर बहुत से व्यक्तियों की यह धारणा है कि कब्ज या अपच समस्त रोगों की जड़ है और इससे रक्त दूषित हो जाता है। उनके इस विश्वास के पीछे कुछ ऐसी बातें भी हैं जो ऊपरी तौर पर सही मालूम देती हैं। शरीर एक घर की भांति है जिसका कूड़ा-करकट बाहर निकालना ही होता है। यदि कूड़ा-करकट घर से बाहर न निकाला जाए तो विपत्तियों

का तांता लग जायेगा। उदाहरण के लिए सारे घर में बदबू, कीड़े और मक्खियां भर जायेंगी। आम आदमी ठीक यही बात हमारे शरीर के साथ भी लागू करता है। इस धारणा के अनुसार मल रूपी कूड़ा-करकट अनेक रोगों को जन्म देता है। यह विश्वास कुछ परिवारों और समुदायों में इतना गहरा पैठ गया है कि वे अपने बच्चों को नियमित पेट साफ करने की दवाईयां देते रहते हैं। यानी, जितना ज्यादा पेट साफ, उतनी ज्यादा अच्छी सेहत।

लेकिन सच्चाई यह है कि कब्ज कोई हौवा नहीं है, और न इससे, जैसा कि माना जाता है, बीमारियां ही पैदा होती हैं। हां, यदि कब्ज लंबे समय तक रहे तो कुछ पेचीदगियां जरूर हो जाती हैं। फिर, किसी व्यक्ति को कब्ज हो गया है इसे तय करने के लिए कोई पक्का नियम नहीं है। मल-विसर्जन का आचरण देश, क्षेत्र, समुदाय और यहां तक कि एक परिवार के व्यक्तियों के अनुसार बदलता रहता है। अधिकतर चिकित्सकों का मानना है कि यदि आप सप्ताह में तीन से इक्कीस बार शौच जाते हैं तथा मल गीला और नरम है, तो आपको कब्ज नहीं है। अतः कब्ज तब ही माना जाये जब लगातार सप्ताह में तीन बार से कम मल विसर्जन हो, मल की प्रकृति सख्त, सूखी और कम मात्रा में हो और उसे त्यागने में कष्ट हो, या फिर ऐसा लगे कि लगातार काफी समय तक पूरे मल का विसर्जन नहीं हो रहा है। इसमें 'लगातार काफी समय तक' का बड़ा महत्व है क्योंकि कभी-कभी शौच जाने की संख्या कुछ अवधि के लिए कम हो जाती है, लेकिन वह फिर स्वतः सामान्य हो जाती है। हां, यदि संख्या में यह कमी प्रायः होने लगे तो वह व्यक्ति कब्ज का रोगी माना जा सकता है।

कब्ज प्रायः अपचित पदार्थों के बड़ी आंतों में धीमी गति से चलने के कारण होता है। ऐसा तब भी हो सकता है जब मल की गति में टयूमर, आंतों का टेढ़ापन या मोटापन अवरोध पैदा करते हैं। ऐसी स्थिति में कब्ज काफी गंभीर प्रकार का होता है और उसमें अनेकों चिंताजनक लक्षण पैदा हो जाते हैं। सामान्य रूप से कब्ज का यही अर्थ लगाया जाता है कि मलप्रवाह में कहीं मांसपेशीय अवरोध है। आमाशय में लगभग एक घंटे से तीन घंटे का समय गुजारने के बाद भोजन छोटी आंतों में प्रवेश करता है जो अपने नाम के विपरीत लंबी, घुमावदार तथा साधारण हौज-पाइप की तरह और उतनी ही लंबी लगभग 20 फुट लंबी होती हैं। पाचन क्रिया अर्थात् भोजन का छोटे अंशों में टूटना ताकि वह पचाया जा सके, छोटी आंतों में ही होता है। भोजन में एक ऐसा भाग होता है जो अधिकांश पौधों की फसल में पाया जाता है। इसे सेल्युलोज कहते हैं। मनुष्य की आंतें इसे पचाने की क्षमता नहीं रखतीं। सेल्युलोज विशेष रूप से अनाज की भूसी तथा सब्जियों और फलों के छिलकों में होता है।

आश्चर्य की बात है कि स्टार्च या मांड, जो कितने ही व्यक्तियों का मुख्य भोजन है, के समान ही सेल्युलोज भी ग्लूकोज के अणुओं से ही बना होता है, फिर भी हमारे पाचक रस इसे पचा क्यों नही पाते? इसका कारण इन दोनों अणुओं (स्टॉर्च और सेल्युलोज) की रचना में एक बहुत छोटा सा परंतु महत्वपूर्ण अंतर है जिसने इनका चरित्र ही बदल दिया है। ग्लूकोज के

सीधे अणु की कल्पना मदिरा के एक सीधे रखे गिलास से कीजिए। ग्लूकोज के अणु को उल्टा खड़ा करने पर वह मदिरा के गिलास के उल्टे खड़े रखने के समान होगा। स्टार्च और सेल्युलोज दोनों, ग्लूकोज के सैकड़ों अणुओं के एक-दूसरे से जुड़े रहने से बनते हैं, मानो कितने ही गिलास एक पंक्ति में खड़े हों। परंतु, जहां स्टार्च अणु के मामले में सभी गिलास सीधे खड़े दिखाई देते हैं वहीं सेल्युलोज अणु में वे एकांतर रूप से 'सीधे' और 'उल्टे' दिखाई देते है। एक और प्रकार से इसे यूं समझिए – यदि ग्लूकोज के एक सीधे खड़े अणु को हम 'त' मानें और उल्टे को 'ꓕ', तो स्टार्च के अणु की रचना होगी, 'त...तततततत...' तथा सेल्युलोज की 'तꓕत ꓕतꓕतꓕत....'। शरीर के पाचक रस 'तत' बंधनों को तोड़कर स्टार्च से ग्लूकोज का निर्माण तो कर सकते हैं, पर वे 'तत' बंधनों, जिनमें से आधे निसंदेह ग्लूकोज के समान हैं, को तोड़ नहीं पाते और वे व्यर्थ पदार्थ के रूप में शरीर से निकाल दिए जाते हैं।

केले के छिलके और उसके गूदे में लगभग समान मात्रा में ग्लूकोज अणु होते हैं, परंतु जहां गूदे में वे स्टार्च के रूप में होते हैं वहीं छिलके में वे सेल्युलोज के रूप में होते हैं।

इस जानकारी से शायद कई पाठकों को लगे कि सेल्युलोज भोजन का एक निरर्थक भाग है और उसे फेंक देना चाहिए। ऐसा नहीं है। सेल्युलोज रेशायुक्त भोजन का एक बड़ा भाग है जो हमारी आंतों को भरे रखता है और उन्हे गति देने में प्रोत्साहित करता है। क्या आपने स्वास्थ्य के प्रति सचेत व्यक्तियों को सेब छील कर खाने से मना करते नहीं सुना? बात तो यह बिल्कुल ठीक है, परंतु इसके पीछे जो कारण वे बताते हैं वे गलत हैं। उनका कहना है छिलके में विटामिन होते हैं। यह ठीक नहीं है। छिलके में सेल्युलोज होता है जो भले ही ऊर्जा के नाम पर हमें कुछ न दे सके, रेशे के रूप में होने के कारण बड़ा लाभदायक है। भोजन में मौजूद रेशे का भाग ही आंतों में कृमिवत आकुंचन (पेरिस्टेलिसिस) उत्पन्न कर भोजन को आगे बढ़ाता है और इस प्रकार कब्ज से बचाये रखता है।

अपने नाम के विपरीत बड़ी आंत केवल 6 फुट लंबी होती है और पूरे उदर में अर्धचंद्राकार रूप में मौजूद रहती हैं (चित्र 10.)। यह हमारे उदर के दाएं निचले भाग से लेकर अपनी पूरी लंबाई में फैलते हुए मलाशय में परिवर्तित हो जाती है, जो अंततः गुदाद्वार में खुलता है। भोजन का जो भाग छोटी आंत द्वारा पच नहीं पाता (विशेषकर सेल्युलोज) वह बड़ी आंत में प्रवेश करता है। इसमें पानी की मात्रा अधिक होती है। बड़ी आंत का मुख्य कार्य पानी को सोखना है। मलाशय तक पहुंचने तक पानी की मात्रा इतनी कम हो जाती है कि मल अर्धठोसीय अवस्था में पहुंच जाता है। जिन परिस्थितियों में मल पदार्थ तेजी से बड़ी आंत में से गुजर जाता है वे पतले दस्तों को पैदा करती हैं। इसके विपरीत कब्ज की स्थिति में मल पदार्थ बड़ी आंत में अधिक देर तक रहता है जिससे मल पत्थर की तरह सख्त हो जाता है। सख्त मल त्यागना अधिक कष्टप्रद होता है जिससे कब्ज को बढ़ने में अधिक मदद मिलती है। अतः कब्ज को दूर रखने का सरल उपाय है अधिक से अधिक तरल पदार्थों का सेवन।
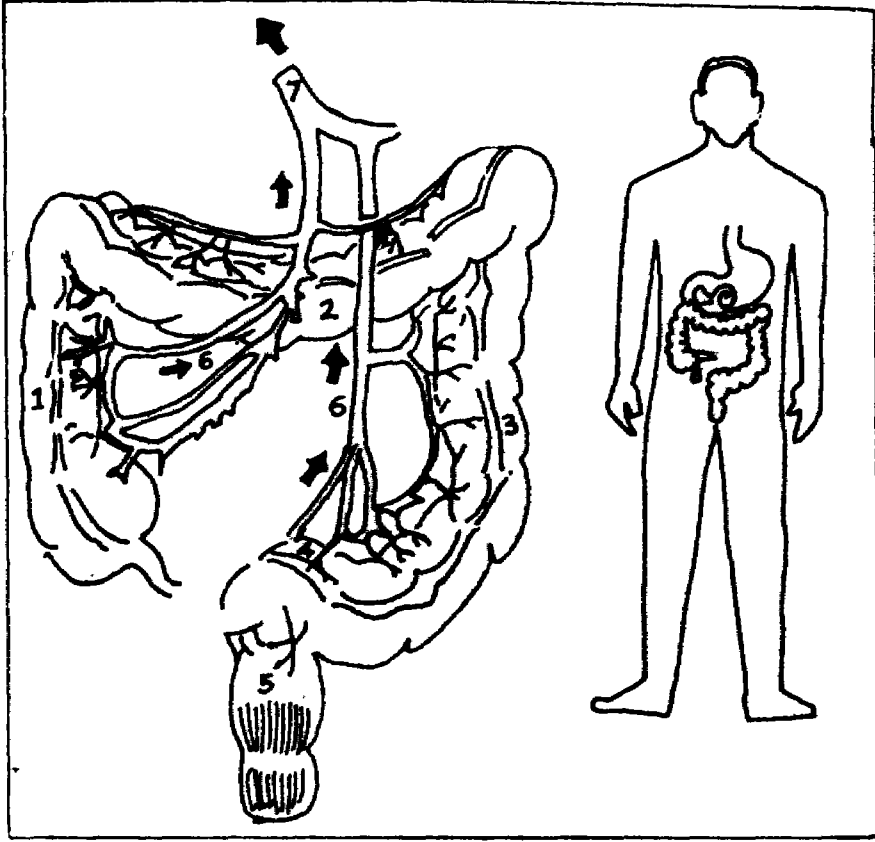
चित्र 10. बडी आंत (स्थिति चित्र में देखें) में आरोही ब्रहदांत्र (1); अनुप्रस्थ बृहदांत्र (2); अवरोही बृहदांत्र (3); अवग्रह बृहदांत्र (4); तथा मलाशय(5); सम्मिलित हैं। ब्रहदांत्र में ही रक्त के लिए पानी का सबसे अधिक अवचूषण होता है। ब्रहदांत्र शिराओं में अवचूषण (6) तथा वहां से आंत्र प्रवेश द्वार (7) में जाने का मार्ग चित्र में प्रदर्शित है।

मल के मलाशय से निकलकर गुदानाल में प्रवेश करते ही मलविसर्जन की आवश्यकता प्रतीत होती है। तब गुदाद्वार के पास की एक मांसपेशी, जिससे गुदा-अवरोधिनी (ऐनल स्फिंक्टर) कहते हैं, ढीली हो जाती है और मल विसर्जित हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति मल विसर्जन की स्थिति में नहीं है तो वह इस इच्छा को स्वयंमेव रोक लेगा। सामान्यतः यह इच्छा एक-दो घंटे बाद फिर पैदा हो जाती है। परंतु यदि बार-बार इसका दमन किया जाये तो इससे स्वाभाविक कब्ज (हेबिचुअल कांस्टीपेशन) पैदा हो जाता है। इस प्रकार का कब्ज बहुदा उन छोटे बच्चों और युवाओं में होता है जो खेल के कारण इस इच्छा को दबाते रहते हैं। उत्सर्जन की अनुभूति को सतत दबाये रखने से मल की अत्यधिक मात्रा मलाशय और बड़ी आंत के अन्तिम भाग में एकत्रित हो जाती है। मल त्याग के समय ऐसे व्यक्तियों को मल की असाधारण मात्रा और

शुष्कता के कारण अत्यंत कठिनाई होती है।

अनेकों बार कब्ज मांसपेशियों की दुर्बलता के कारण भी होता है। यद्यपि व्यायाम से आंतों की पेशियों में कोई मजबूती नहीं आती फिर भी वह उदर-पेशियों को सबल बनाकर आंतो की गत्यात्मकता बढाने में मदद करता है। यही कारण है कि व्यायाम से बचने वाले व्यक्तियों में कब्ज रोग अधिक पाया जाता है। बूढ़ों व नव-प्रसूता महिलाओं के कब्ज का भी यही कारण है। शैया-रोगी भी कब्ज से पीड़ित रहते हैं। इन परिस्थितियों में भोजन की मात्रा कम होने से उसमें रेशेदार भाग की मात्रा भी कम हो जाती है जो कब्ज बढ़ाने में मदद करती है। गर्भावस्था में कब्ज का कारण हार्मोनों की अधिकता है जो आंतों की मांसपेशियों को प्रभावित करते हैं। गर्भाशय की बढ़ी हुई अवस्था बड़ी आंतों पर दवाब डालती है जिससे आंतों की गति में बाधा पैदा होती है।

अनियमित भोजन करने वालों को या जिनके भोजन में अपाच्य भोज्य पदार्थों (सेल्युलोज आदि) की मात्रा अत्यंत कम होती है, कब्ज की शिकायत अधिक होती है। इसका कारण बड़ी आंतों का पूरी तरह न भरना तथा आंतों की गति का पूरी तरह सक्रिय न होना है।

यह सदैव याद रखना चाहिए कि हर व्यक्ति के मल-उत्सर्जन की आदत विशेष प्रकार की होती है। यह अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग हो सकती है। यदि आपको लंबे अंतराल के बाद शौच जाने की आदत हो तो यह मत मान बैठिए कि आपको कब्ज है। कब्ज होने की चिंता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चिंता करना कब्ज का कारण हो सकता है।

कुछ धूम्रपान करने वालों को धूम्रपान बंद करते ही कब्ज हो जाता है। होता यह है कि तम्बाकू में मौजूद निकोटिन भोजन को आंतों में तेजी से आगे बढ़ाकर उसे त्यागने में मदद करता है। धूम्रपान छोड़ते ही निकोटिन के अभाव में कब्ज हो जाता है और उन्हें दुबारा धूम्रपान आरंभ करने एक बहाना मिल जाता है। लेकिन उन्हें चाहिए कि धूम्रपान दुबारा शुरू करने की बजाय वे तीन प्रमुख नियमों का पालन करें —रेशे से भरपूर भोजन (फल, सब्जी, चोकर-भूसी वाला आटा, आदि) का प्रयोग करें ; पर्याप्त मात्रा में तरल पदार्थ लें ; तथा नियमित व्यायाम करें।

हममें से बहुतों ने यात्रा-जनित अतिसार के बारे में सुना होगा। अगले अध्याय में इसके बारे में विस्तृत जानकारी दी जायेगी। छुट्टी के दिन कुछ व्यक्तियों को प्रायः कब्ज हो जाता है, इसे सामान्य बोलचाल में 'अवकाशीय कब्ज' कहते हैं। कुछ लोग इसका कारण पानी में परिवर्तन मानते हैं, परंतु वास्तविकता यह है कि दिनचर्या में परिवर्तन तथा यात्रा के दबाव के कारण ऐसा होता है। कभी-कभी तो नये प्रकार के शौचालय के कारण भी कब्ज हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई भारतीय तरीके की शौचालय-सीट उपयोग करने का आदी है, तो उसे पाश्चात्य तरीके की सीट पर हाजत नहीं होगी। इसका उल्टा होने पर भी यही होगा। अजनबी सीट पर बैठने से मल त्यागने की इच्छा [illegible] जाती है और इससे कब्ज होने की

संभावना बढ़ जाती है।

कब्ज ठीक करने का यदि कोई सबसे बुरा उपाय है तो वह है रेचक औषधियों का सेवन। यह वैसा ही है जैसे कोई थके घोड़े को हंटर मार कर चलाये। ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। अधिकतर रेचक आंतों के तंतुओं को उत्तेजित कर उनकी गति में वृद्धि करते हैं। इससे भयंकर दर्द हो सकता है। इसके अलावा बड़ी आंतों से भोजन के तेजी से गुजरने के कारण उसमें मौजूद पानी पूरी मात्रा में सोखा नहीं जाता जिससे मल पतला होकर विसर्जित होता है।

रेचक का प्रयोग करने पर आंतें अगले भोजन को सामान्य से अधिक देर तक रोकने का प्रयत्न करती हैं जिससे कब्ज होने की संभावना बन जाती है। इस स्थिति में रोगी को फिर रेचक लेने की आवश्यकता पड़ जाती है और यह क्रम कई बार दुहराया जाता है। परिणाम यह होता है आंतों की नाड़ियां इस स्थिति की अभ्यस्त हो जाती हैं और इसके अभाव में वे सामान्य रूप से कार्य नहीं कर पातीं।

अगर रेचक लेना अनिवार्य ही हो जाये तो ऐसा रेचक लेना चाहिए जो मल की मात्रा को बढाये न कि वह जो नाड़ियों में उत्तेजना पैदा करे। उत्तेजक रेचकों में डलकोलेक्स नामक औषधि की गोलियां आमतौर से ली जाती हैं। मल की मात्रा बढाने वाले रेचकों में हैं – इसबगोल, अगार-अगार तथा मीथाइल-सेल्युलोज। इन तीनों औषधियों में इसबगोल हमारे देश में अधिक उपयोग किया जाता है। यह दिन में दो बार 5 ग्राम की मात्रा में गुनगुने दूध या पानी के साथ लिया जाता है। इसबगोल रक्त में कॉलेस्ट्रोल की मात्रा को भी कम करता है जो मोटे रोगियों के लिए बहुत लाभप्रद है। अन्य प्रकार के हानिरहित रेचकों में वे रेचक सम्मिलित हैं जो मल को नरम करते हैं। इस वर्ग में प्रमुख हैं – द्रव पैराफिन और मिल्क आफ मैग्नीशिया। द्रव पैराफिन कब्ज की परंपरागत औषधि है। यह तेल आंतों को चिकना कर मल को आसानी से निकलने में मदद देता है। बवासीर के रोगियों के लिए इसकी आमतौर पर सिफारिश की जाती है, जिन्हें सख्त मल त्यागने में अत्यंत पीड़ा और कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कब्ज से ग्रसित हृदय-रोगियों के लिए भी इसका उपयोग लाभदायक है। साथ ही गर्भवती महिलाओं, उदर या मलाशय की शल्य-चिकित्सा हुए रोगियों तथा जिन्हें मल विसर्जन में कष्ट होता हो, ऐसे व्यक्तियों के लिए भी पैराफिन बड़ी उपयोगी है। मल को कम से कम रगड़ के साथ आंतों से निकालने में सहयोगी होने के कारण पैराफिन बड़ी लोकप्रिय है।

यदि कब्ज उपरोक्त उपचार के बाद भी बना रहे तो चिकित्सक से सलाह लेनी चाहिए। हो सकता है यह किसी अन्य रोग का लक्षण हो।

अंत में यह कहना विषयांतर न होगा कि हमारे पूर्वजों में यह रोग नहीं के बराबर था। पुरातन भेषज ग्रंथकारों ने अपने लेखों में शायद ही कहीं इसका वर्णन किया हो। निस्संदेह उनके रोगमुक्त रहने का कारण कच्चा, प्राकृतिक भोजन था जिसमें रेशे के भाग की मात्रा

सर्वाधिक होती थी। आज हम अधिक से अधिक शुद्ध व संसाधित भोजन का उपयोग करते हैं जिसमें रेशा न के बराबर होता है। अधिकतर गृहिणियां आटे को छानकर उसकी भूसी फेंक देती हैं। भूरे रंग की रोटी के मुकाबले हम सफेद रंग की रोटी अधिक पसंद करते हैं। भूरी रोटी में लाभकारी रेशा अधिक होता है। हमें बिस्कुट और केक, ताजा फल और सब्जियों से अधिक प्रिय हैं जिनमें रेशे का भाग होता है। केवल अपने भोजन की आदतों में परिवर्तन कर हम इस रोग से छुटकारा पा सकते हैं। शायद यह अतिशयोक्ति न हो कि प्राकृतिक भोजन से अलग होने का दंड हमें कब्ज के रूप में मिलता है।
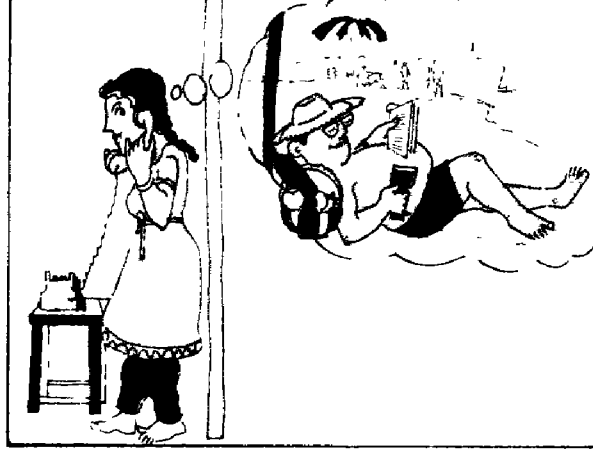
"तुम्हारे बॉस पिछले दो दिन से अतिसार से पीड़ित हैं।"

अतिसार

जितनी शर्मिंदगी अतिसार के कारण उठानी पड़ सकती है, उतनी शायद किसी अन्य बीमारी में नहीं। क्या आप उस आदमी की परेशानी का अंदाजा लगा सकते हैं जो खाने की मेज से हडबड़ा कर उठता है और तेजी से शौचालय की ओर भागता है? यदि आप अतिसार से ग्रसित होने का कारण बताकर किसी पूर्व नियोजित कार्यक्रम को रद्द कर देते हैं तो आप पर कोई अविश्वास नहीं कर सकता। सभी भली-भांति जानते हैं कि यह रोग कितना अप्रत्याशित, आकस्मिक तथा असुविधाजनक है। भला हो इस रोग का जिसकी मेहरबानी से लोग अपने कार्यालय के व्यस्त जीवन से कुछ दिन चुराकर घर पर चैन की सांस ले सकते हैं। उन्हें कुछ अधिक बहाना बनाने की भी आवश्यकता नहीं। बस इतना ही कहना काफी है कि पिछली रात वे कहीं खाने पर गये थे और उसी के कारण यह गड़बड़ हो गयी है। बॉस तुरंत स्वीकृति दे देगा।

अतिसार अथवा दस्तों का जिक्र आते ही लोग बिना सोचे-समझे कई प्रकार के शंब्दों का प्रयोग कर डालते हैं। अतिसार को अंग्रेजी में डायरिया कहते हैं। इस शब्द का मतलब है पानी या पानी जैसे मल का विसर्जन। डायरिया शब्द यूनानी भाषा के 'डाया' अर्थात् 'से होकर' तथा 'रियो' अर्थात् 'बहना' से मिल कर बना है। अतः इसका शाब्दिक अर्थ हुआ 'से होकर बहना'। जब भी कोई व्यक्ति इस रोग से पीड़ित होने की बात करता है तो लोग उसे जठरांत्रशोथ, पेचिश या भोजन विषाक्तता से जोड़ देते हैं। अतः इन रोगों के बारे में शुरू में ही जानना आवश्यक है।

साधारण अतिसार अधिकतर विषाणु के कारण होता है। ये विषाणु कई प्रकार के हैं, उदाहरणार्थ रोटावायरस, नोरवॉक, एडिनोवायरस, केलिसिवायरस, कॉरोनावायरस, एस्ट्रोवायरस, आदि। इनमें से दो, एडिनोवायरस और कॉरोनावायरस के बारे में हम 'जुकाम' वाले अध्याय में बता चुके हैं। कभी-कभी अतिसार का कारण अधिक चिंता से नाड़ियों पर पड़ने वाला दबाव होता है। इन स्थितियों में अतिसार शब्द का सही अर्थ है। इसके विपरीत पेचिश में अतिसार के साथ-साथ मल में रक्त तथा श्लेष्मा जैसा पदार्थ भी मिला होता है। पेचिश या डाइसेन्ट्री शब्द का सबसे पहला प्रयोग ग्रीक चिकित्सक हिप्पोक्रेट्स (460 ई.पू. - 370ई.पू.) ने रक्त-मिश्रित मल के संदर्भ में किया था। यह शब्द ग्रीक भाषा के शब्दों—'डाइय' अर्थात् 'असामान्य' तथा 'ऐन्टेरा' यानी 'आंत' से मिलकर बना है। पेचिश या तो छड़ की आकृति वाले जीवाणु, शिगैला द्वारा होती है या फिर एक कोषीय सूक्ष्मजीव अमीबा द्वारा। पहली स्थिति में इसे जीवाणु द्वारा पेचिश और दूसरी में अमीबा द्वारा पेचिश कहते हैं। जीवाणु, शिगैला का नाम इसके अनुसंधानकर्ता जापानी सूक्ष्म जीव विज्ञानी कियोशी शीगा (1870-1957) के नाम पर पड़ा है।

जठरांत्रशोथ या गेस्ट्रोएन्टेरिटिस, जिसमें आमाशय तथा आंतों में प्रदाह उत्पन्न हो जाता है, अपेक्षाकृत एक नया नाम है। इसे सबसे पहले सन् 1828 में फ्रांसिसी चिकित्सक फ्रेंको ब्रूजिये ने प्रयोग किया। कुछ लोग इसे गेस्ट्रिक फ्लू के नाम से भी पुकारते हैं। यह प्रायः एक अन्य दंडाकृति वाले जीवाणु, सालमोनेला, के द्वारा होता है, जिसकी अमेरिकन पशुचिकित्सक डेनियल ऐल्मर सालमन (1850-1914) ने खोज की थी। जठरांत्रशोथ का एक मुख्य लक्षण है अतिसार के साथ-साथ उल्टी का होना जो पेचिश में नहीं होता। इसके अलावा इसमें मल, रक्त एवं श्लेष्मा मिश्रित नहीं होता जो पेचिश की विशेषता है। दोनों में प्रदाह का स्थान अलग-अलग होता है। जहां जठरांत्रशोथ में यह अमाशय और छोटी आंतों में होता है, वहीं दोनों प्रकार के पेचिशों अर्थात् जीवाणु या अमीबा वाले में यह मुख्यत : बड़ी आंत में होता है। दोनों रोगों के उद्‌भवन काल में भी थोड़ा सा अंतर है। हमने जुकाम से संबंधित अध्याय में उद्‌भवन काल का वर्णन किया था। शिगैला पेचिश में उद्‌भवन की अवधि 24 से 72 घंटे की होती है तथा सालमोनेला से हुई जठरांत्रशोथ में 8 से 48 घंटे की। अमीबा-जनित पेचिश में यह अवधि अनिश्चित

रहती है। कई बार संक्रमित भोजन खाने के बाद इसके लक्षण 2 या 3 दिन में दिखाई देने लगते हैं और कभी-कभी कई सप्ताह तक वे नहीं उभरते।

भोजन विषाक्तता शब्द का उपयोग अधिकतर उस समय किया जाता है जबकि बहुत से व्यक्ति एक साथ किसी सम्मिलित भोज, जैसे विवाह, आदि के बाद बीमार हो जायें। जीवाणु द्वारा भोजन विषाक्तता की कोई घटना लगभग इस प्रकार होगी : विवाह में खाना-पीना चल रहा है। अतिथि भोजन का पूरा आनंद ले रहे हैं। चार-पांच घंटे गुजरने के बाद अतिथियों में जी मिचलाने, बुखार, उलटी तथा अतिसार की मानो होड़ लग गयी। ऐसा 4 से 16 घंटे तक चलता रहा और फिर धीरे-धीरे सब शांत हो गया। रोगी कमजोर और निढाल हो गये। बाद में पता चला कि एक या दो नौकरों को छोड़कर जिन्होंने खाना नहीं खाया था, दावत में सम्मिलित सभी लोग अस्वस्थ हो गये थे। इससे स्पष्ट होता है कि इस दुखद घटना के पीछे भोजन का ही हाथ था।

भोजन विषाक्तता उस भोजन को खाने से होती है जिसमें कुछ समय पूर्व विशेष जीवाणुओं ने विष (टॉक्सिन) निर्मित कर दिया हो तथा परिणामस्वरूप भोजन दूषित हो गया हो। ऐसे भोजन से जीवाणुओं के साथ-साथ विष भी मनुष्य के शरीर में चला जाता है और रोग के लक्षण उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार की विषाक्तता, विष-जनित विषाक्तता कहलाती है। इसके लिए दो प्रकार के जीवाणु उत्तरदायी हैं। एक स्टैफिलोकोकस, जिसका हमने नेत्रदाह के अध्याय में परिचय कराया था, और दूसरा क्लोस्ट्रिडियम वेल्ची, जिसके द्वारा उत्पन्न विष प्रकृति में सबसे सशक्त विषों में से एक है। क्लोस्ट्रिडियम विष की 1 ग्राम मात्रा 30 अरब चूहों को मौत के घाट उतार सकती है। क्लोस्ट्रिडियम विष मिश्रित भोजन से अतिसार तो नहीं होता पर इससे श्वसन क्रिया अवश्य रुक जाती है। अतः इसका वर्णन विषयांतर हो जायेगा। हां, स्टैफिलोकोकस से उत्पन्न भोजन विषाक्तता में अतिसार के साथ जी मिचलाना और उलटियां भी होती हैं।

उपरोक्त वर्णित जीवाणुओं के अतिरिक्त कुछ और जीवाणु भी हैं जो विष का निर्माण तो नहीं करते परंतु संक्रामित भोजन में इतनी तेजी से वृद्धि करते हैं कि उसको खाने वाला व्यक्ति तुरंत बीमार हो जाता है। इनमें से एक विषाणु है - सालमोनेला। इस प्रकार की विषाक्तता को संक्रामित-विषाक्तता कहते हैं क्योंकि विष की बजाय संक्रमण प्रभावित करता है। यहां एक प्रश्न पैदा होता है कि क्या सालमोनेला जठरांत्रशोथ व भोजन विषाक्तता दोनों के लिए उत्तरदायी है? जैसा कि बताया जा चुका है भोजन विषाक्तता एक ऐसा शब्द है जिसे मनुष्यों के एक बड़े समूह के किसी सम्मिलित भोज में एक साथ बीमार होने के संदर्भ में प्रयोग किया जाता है। अतः यह शब्द वैज्ञानिकों का नहीं, सामान्य लोगों का भी है। दूसरी ओर, जठरांत्रशोथ का प्रयोग अधिकतर व्यक्तिगत संक्रमण में किया जाता है। इसे व्यापक रूप में वैज्ञानिक भोजन विषाक्तता के संदर्भ में प्रयोग करना पसंद करते हैं। अंतः भोजन विषाक्तता और जठरांत्रशोथ एक दूसरे के पर्याय हैं। हां, रोगियों की संख्या का अंतर अवश्य है।

किसी के भी मन में यह जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न होगी कि ये संक्रामक जीवाणु आते कहां से हैं। सालमोनेला और शिगैला जैसे जीवाणु संक्रामित रोगियों के मल के साथ बहुत बड़ी मात्रा में बाहर आते हैं। यदि कोई संक्रमित रोगी शौचालय से आने के बाद अपने हाथों को अच्छी तरह नहीं धोता और भोजन को छूता है तो वह ोग को फैलाने का जिम्मेदार है। इसी प्रकार मक्खियां भी मल से जीवाणुओं को भोजन तक हुंचाती हैं। अतः जिस भोजन पर मक्खियां उड़ रही हों या बैठी हों उसे कभी नहीं खाना चाहिए। ऐसा भोजन तो पालतू जानवरों को देने लायक भी नहीं होता। आश्चर्य की वात यह है कि इस सबके वावजूद भी खोमचों वालों से खाने का सामान खरीदकर लोग बड़े मजे से खाते रहते हैं।

जहां तक विष-जनित विषाक्तता का प्रश्न है इसे पैदा करने वाले जीवाणु मिट्टी, धूल और कूड़े-कचरे में बहुतायत मात्रा में रहते हैं। सूक्ष्मदर्शी यंत्र के नीचे तकली जैसा दिखने वाला जीवाणु क्लोस्ट्रिडियम (यूनानी शब्द क्लोस्टर का अर्थ है तकली) मिट्टी में बड़ी मात्रा में होता है तथा उन फलों और सब्जियों में भी, जो सीधी खेतों से आ रही हों। इसी कारण सेवन से पूर्व कच्चे फलों और सब्जियों को भली प्रकार धो लेना चाहिए। इन जीवाणुओं का आश्चर्यजनक स्वभाव यह है कि वे केवल आक्सीजन के अभाव में ही वृद्धि करते हैं। इसका कारण यह है कि आक्सीजन इनके लिये विष है और वे उसकी उपस्थिति में नष्ट हो जाते हैं। यह वात हमें, जो आक्सीजन के बिना एक मिनट भी जिंदा नहीं रह सकते, भले ही अविश्वसनीय लगे परंतु यह प्रकृति का एक रोचक सत्य है। इसी कारण हवा रहित डिब्बा-बंद खाद्य पदार्थों में ये जीवाणु बड़ी तेजी से बढ़ते हैं। अधिकतर देशों में कानूनन डिब्वाबंदी के बाद खाद्य पदार्थ को दबाव-युक्त वाष्प से विसंक्रमित करना पड़ता है, परंतु कभी-कभी विसंक्रमण-क्रिया के अपूर्ण रह जाने के कारण जो जीवाणु बच जाते हैं वे तेजी से डिब्बे में बढ़ते हैं और विष उत्पन्न कर देते हैं। इस क्रिया में गैस भी बड़ी मात्रा में बनती है जो या तो डिब्बों से निकलने लगती है या उन्हें पिचका देती है। इसलिए, जो डिब्बे फूले हुए, टेड़े-मेड़े या रिसते दिखाई दें, उन्हें नहीं खरीदना चाहिए।

यदि आक्सीजन क्लोस्ट्रिडियम जीवाणु के लिए घातक है तो फिर यह फलों और सब्जियों पर खुले वातावरण में जिंदा कैसे रहता है? यह प्रश्न कितने ही पाठकों के मस्तिष्क में उठेगा। इसका कारण यह है कि क्लोस्ट्रिडियम गिरगिट की तरह रंग बदलने में माहिर है और वह परिस्थितियों के अनुसार बदल जाता है। जैसे, यदि स्थिति अनुकूल नहीं है तो वह खुद को एक मोटे आवरण—जिसे बीजाणु (स्पोर) कहते हैं—में ढंक लेता है। आक्सीजन की उपस्थिति में वह यही करता है। अनुकूल परिस्थिति में वह फिर से अपनी पहली अवस्था में आकर वृद्धि करना आरंभ कर देता है। इससे सिद्ध होता है कि क्लोस्ट्रिडियम जाति के जीवाणु सबसे चालाक तथा घातक होते हैं। इसी परिवार का एक अन्य सदस्य व क्लोस्ट्रिडियम वेल्वी का भाई है — क्लोस्ट्रिडियम टिटैनी, जो टेटनस नामक भयानक रोग उत्पन्न करता है। इसमें रोगी शीघ्र

ही लकवे का शिकार हो जाता है।

इनके अलावा अतिसार पैदा करने वाले कम से कम दो जीवाणु और हैं। इनमें से एक है एशेरिशिया कोलाई, जिसका नाम कठिन है तथा एक जर्मन वैज्ञानिक के नाम पर आधारित है। इस जीवाणु का पता मनुष्य के मल में सन् 1885 में, जर्मन चिकित्सक थियोडोर एशेरिश ने लगाया था। तभी से यह एशेरिशिया कोलाई, संक्षेप में कोलन नाम से जाना जाता है। इस नाम का पिछला भाग, कोलाई इस बात का द्योतक है कि यह कालोन या बड़ी आंत का जीवाणु है। यह जीवाणु छोटे बच्चों, विशेषकर दो वर्ष से कम आयु वालों का पक्का दुश्मन है। उनमें यह एक गंभीर प्रकार का अतिसार उत्पन्न करता है जो बड़ों में होने वाले हैजे के समान होता है। शायद इसी कारण बच्चों के इस अतिसार को 'कालेरा इनफेन्टम' कहते हैं। वयस्कों में इसका प्रकोप बहुत कम होता है और वह भी तब होता है जब व्यक्ति किसी अन्य बीमारी या बुखार से कमजोर हो गया हो।

अतिसार के उत्तरदायी दूसरे जीवाणु का नाम है — प्रोटियस। संभवतया यह इकलौता जीवाणु है जिसका नाम एक यूनानी देवता के नाम पर रखा गया है। यूनानी पौराणिक कथाओं में वर्णित समुद्र का देवता, प्रोटियस अपने बचाव के लिए कभी भी अपनी इच्छा से कोई भी रूप धारण कर सकता था। इस जीवाणु को यह नाम देने के पीछे भी यही भावना है कि यह भी अनेकों रूप बदल सकता है। इस जीवाणु की खोज हाउज़र नामक वैज्ञानिक ने सन् 1885 में की थी। आश्चर्य की बात है प्रोटियस गुर्दे, मूत्राशय और उसके मूत्र को संक्रमित करने के लिए अन्य जीवाणुओं को भी आमंत्रित करता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इसमें मूत्र में मौजूद यूरिया को अमोनिया में बदलने की अपूर्व क्षमता है। अमोनिया गुर्दे में मौजूद उन प्रोटीनों को जो संक्रमण से लड़ने में सक्षम हैं, निष्क्रिय बना देती है। एलर्जी वाले अध्याय में हमने पढ़ा था कि प्रतिपिंड किस प्रकार संक्रमण का मुकाबला करते हैं। हमारे शरीर में उपस्थित द्रवों में समान रचना वाले लगभग 15 प्रोटीन हैं जो संक्रमण से हमारी रक्षा करते हैं। वे नागरिकों से बनी उस स्वैच्छिक सेना की भांति है जो सीमाओं पर दुश्मन से मोर्चा लेती है। चूंकि इन प्रोटीनों से हमारी शारीरिक सुरक्षा में पूर्णता आती है अतः इन्हें पूरक (कांप्लीमेंट) कहते हैं। ये इस प्रकार एकजुट होकर कार्य करते है कि इनमें से एक के भी निष्क्रिय होने पर पूरे तंत्र पर कुप्रभाव पड़ता है। वास्तव में अमोनिया केवल इस शृंखला की चौथे प्रोटीन को प्रभावित करता है, पर सारे तंत्र के अव्यविस्थत होने से वे जीवाणु जो समय की प्रतीक्षा में कहीं शांत बैठे रहते हैं, तेजी से आक्रमण कर देते हैं। अमोनिया के कारण मूत्र क्षारीय हो जाता है जिससे मूत्राशय में पथरी बन जाती है।

अतिसार को आधुनिक युग की बीमारी कहना उचित न होगा। सबसे पहली बार महामारी के रूप में यह रोग तब फैला होगा जब इसके किसी रोगी ने मलविसर्जन के बाद नदी के बहाव में उस स्थान से ऊपर, जहां से अन्य लोग पीने का पानी लेते होंगें, अपने को धोया होगा।

प्राचीन अभिलेखों में जठरांत्रशोथ या पेचिश के कारणों से हुए अतिसार में कोई अंतर नहीं बताया गया है। हिप्पोक्रेटस के लेखों में कष्टदायी अतिसार का रोचक वर्णन है। चर्मपत्रों पर लिखित चिकित्सा की प्रसिद्ध प्राचीन पुस्तक 'एबर्स पेपिरस' में भी अतिसार का वर्णन है। लगभग 3500 वर्ष पुरानी यह पुस्तक पिछली शताब्दी में मिस्र की नील नदी के किनारे बसे नगर लक्सर की एक कब्र में दबी 'ममी' की टांगों के बीच पायी गयी थी। प्रोफेसर एबर्स ने इसे 1872 में खरीदा। तब से ही इसे इस नाम से पुकारा जाता है। सेमुअल प्रथम (बाइबिल की एक पुस्तक) में वर्णित फिलिस्तिनियों का रोग पेचिश रहा होगा, हालांकि कुछ इतिहासकार इसे प्लेग मानते हैं। एक मिस्री कहानी के अनुसार आइसिस और आसिरिस का बेटा होरस पेचिश से बीमार हुआ था। एवर्स पेपिरस के अतिरिक्त हमारी प्राचीन भेषज पांडुलिपियों में भी पेचिश का वर्णन है। ईसा से पांच शताब्दी पूर्व यूनानी इतिहासकार हेरोडाटस ने एक विचित्र पेचिश महामारी का वर्णन किया है जो ई.पू. 480 में फारस की सेनाओं में फैली थी। प्राचीन चीनी अभिलेखों में भी अतिसार और पेचिश का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि अतिसार से प्राचीन चिकित्सक भली-भांति परिचित थे।

भीड़भाड़ वाले स्थानों पर अतिसार एक सामान्य बात है क्योंकि वहां स्वच्छता रहना संभव नहीं। मध्ययुग की युद्धरत सेनाओं में यह इस स्तर तक मौजूद रहती थी कि इसे 'अभियान रोग' के नाम से जाना जाता था। यह रोग कभी-कभी युद्ध में मारे गये कुल सैनिकों से अधिक को मौत के घाट उतार देता था। उन दिनों वास्तव में सेनाओं को दो मोर्चो पर लड़ना पड़ता था— दुश्मन से और अतिसार से। सन् 1346 के क्रेसी युद्ध में अंग्रेजी फौजें पेचिश और उससे संबंधित संक्रमणों से इस बुरी तरह घिर गई थीं कि फ्रांसिसियों ने अंग्रेजों का 'बिना बिरजिस वाले' या 'उघड़े नितंबों वाले' कहकर मजाक उड़ाया था (इसके बावजूद भी जीत अतिसार-ग्रसित अंग्रेजी सेना की हुई)। 1861-65 के अमरीकी गृह-युद्ध में उत्तरी सेनाओं के कुल 93,443 सैनिक युद्ध में मारे गये तथा 81,360 अन्य अतिसार और मोतीझरा से मरे (उस समय मोतीझरा को अतिसार के साथ ही जोड़ा जाता था क्योंकि बहुतों को इनका अंतर ही मालूम नहीं था)।

पेचिश तीसरी दुनिया के देशों की आज भी एक प्रमुख समस्या है। विकसित देशों ने स्वच्छता के द्वारा इसे लगभग समाप्त कर दिया है। हमारे देश में, जो दुनिया के सबसे अधिक प्रभावित प्रदेशों में से एक है, पेचिश और अतिसार रोग 19वीं शताब्दी के मध्य में हुई मौतों में से 75 प्रतिशत के लिये उत्तरदायी थे। एक शताब्दी बीतने के बाद भी सन् 1938 में 15 लाख व्यक्ति पेचिश से पीड़ित थे। 50 वर्षो के बाद अर्थात् 1988 में, भारत में अतिसार रोगियों की संख्या 82,60,946 थी — लगभग 6 गुणा बढ़ी हुई। इसमें से 7,920 रोगी अतिसार से मर गये। रोगियों की सबसे अधिक संख्या उड़ीसा (9,88,728) तथा इसके बाद आंध्र प्रदेश (9,74,729) में थी। मृत्यु संख्या में उत्तर प्रदेश (1,201) सबसे आगे था, जहां कुल रोगी 3,40,153 पंजीकृत किये

गये थे। राजधानी दिल्ली में 4,34,764 कुल रोगियों में 938 की मृत्यु हुई। निःसंदेह इस दिशा में हमें अभी बहुत कुछ करना है।

हम अतिसार के प्रमुख कारणों की विवेचना पहले ही कर चुके हैं। अतिसार एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करने से भी हो सकता है। यात्री-अतिसार नामक यह रोग नये खाद्य पदार्थों से आये नये जीवाणुओं के यात्री की आंतों में समावेश के कारण होता है। वे वहां बसे पुराने जीवाणुओं को बाहर निकाल देते हैं। इस उथल-पुथल में आंतों का संतुलन बिगड़ जाता है और व्यक्ति अतिसार से ग्रसित हो जाता है।

यदि कोई व्यक्ति किसी खास भोजन से एलर्जिक है, तो उसे खाने से वह अतिसार से पीड़ित हो जायेगा। कई बार देखा गया है कि कुछ व्यक्ति पनीर खाने से रोगी हो जाते हैं क्योंकि वे इससे एलर्जिक होते हैं। अतः एलर्जी पैदा करने वाले खाद्य पदार्थों से बचना चाहिए। अधिक मसालेदार भोजन, अधिक मात्रा में फल व शैल-मछली खाने से भी अतिसार हो सकता है। बच्चे को स्तनपान कराने वाली माताओं द्वारा मसालेदार भोजन, फल, प्याज आदि खाने से उनके शिशुओं को अतिसार हो सकता है। ध्यान रखिए कि बच्चों में अतिसार बड़ा भयानक होता है। बच्चे के शरीर से अतिसार के कारण उतना ही जल व अन्य लवण बाहर निकल सकते हैं जित्ने कि एक वयस्क के शरीर से। इसका कारण अतिसारीय जल का आंतों की आंतरिक सतह से निकलना है जिनका सतही क्षेत्रफल बच्चों और वयस्कों की आंतों में समान होता है। इससे स्पष्ट है कि 7 कि.ग्रा. वजन के बच्चे के शरीर से एक लीटर द्रव की मात्रा कम होने का दुष्प्रभाव 70 कि.ग्रा. वाले व्यक्ति के मुकाबले में अधिक गंभीर होगा। सभी बच्चे अपने जीवन के प्रथम पांच वर्षों में औसतन 10 से 50 बार अतिसार के पीड़ित होते हैं, अतः उनका इस अवधि में पूरा ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है।

कभी-कभी अतिसार महीनों या वर्षों तक बना रहता है। इस लंबी अवधि वाले अतिसार को चिरकालिक अतिसार कहते हैं। चिरकालिक अतिसार का सबसे बड़ा कारण है 'सीलियेक' जिसका अर्थ है 'उदर रोग'। इस रोग के रोगी गेहूं व अन्य अनाजों में पाए जाने वाले ग्लुटेन नामक प्रोटीन को बर्दाश्त नहीं कर पाते या उसके प्रति एलर्जिक होते हैं। इस एलर्जी के कारण आंत की सामान्य सतह नष्ट हो जाती है और खाये गये भोजन का कुछ ही भाग पच पाता है। इसके फलस्वरूप अपचित, बदबूदार मल विसर्जित होता है। इस प्रकार का मल सामान्य से अधिक बार विसर्जित करना पड़ता है, अतः अतिसार की स्थिति पैदा हो जाती है। 'सीलियेक' रोग प्रति 500 व्यक्तियों में से एक व्यक्ति को होता है।

चिरकालिक अतिसार का एक अन्य कारण व्रणीय-बृहदांत्रशोथ (अलसरेटिव कोलाइटिस) है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें बड़ी आंत में घाव हो जाते हैं और उसमें प्रदाह पैदा हो जाता है। अभी तक इस रोग का कोई कारण ज्ञात नहीं हो पाया है, परंतु कुछ लोगों की मान्यता है कि यह भावात्मक अव्यवस्था के कारण होता है। कुछ अन्य इसका कारण किसी खास भोज्य

पदार्थ से प्रति एलर्जी को मानते हैं।

अतिसार उस समय विशेष रूप से खतरनाक हो जाता है जब इसके साथ उलटियां भी आनी शुरू हो जायें। ऐसे में शरीर का तरल पदार्थ दो रास्तों से बाहर निकलने लगता है। इस स्थिति में तुरंत चिकित्सा उपलब्ध होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में, चिकित्सक अंतःशिरा द्वारा शरीर में द्रव की कमी को पूरा करने की सलाह देते हैं।

वयस्कों तथा विशेषकर बच्चों में होने वाले गंभीर अतिसार का सबसे बढ़िया घरेलू इलाज शरीर में हुई पानी की कमी को दूर करना है। सबसे पहले यह देखें कि कहीं रोगी को निर्जलन तो नहीं हो गया है। इसके लिए उसके माथे की चमड़ी को चिकुटी में लेकर खीचें और फिर छोड़ दें। सामान्य व्यक्ति में त्वचा तुरंत अपनी पूर्ववत स्थिति में आ जाती है। यदि झुर्री पड़ी रहे, तो मानना चाहिए रोगी निर्जलावस्था की ओर बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में थोड़ा नमक पानी में मिलाकर तुरंत दें। नारियल पानी, छाछ, धान-कांजी, नींबू-नमक की शिंकजी

नमक : तीन चुटकी

चीनी : छोटी मुट्ठी भर

250 ml

250 ml
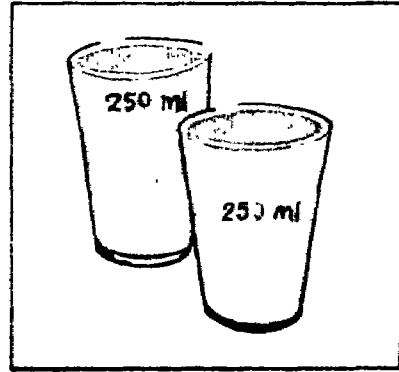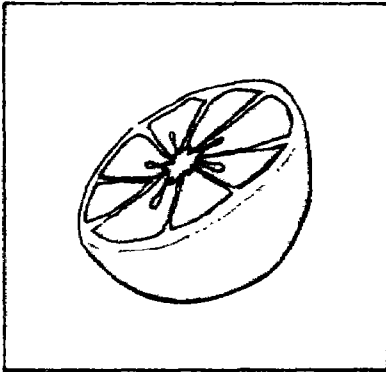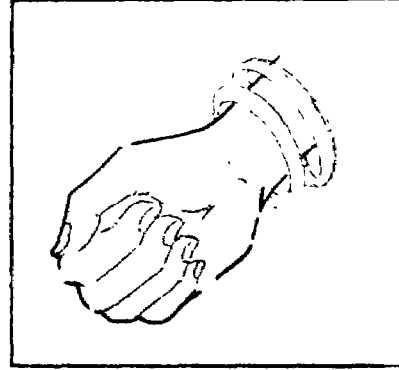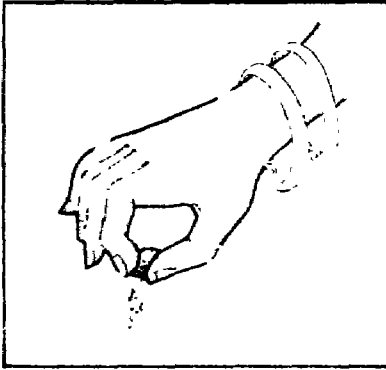
आधा नींबू

पानी : आधा लीटर

चित्र 11. अतिसार में उपयोग किया जाने वाला नींबू-चीनी-नमक का घोल।

(चित्र 11.) या हल्की चाय भी दी जा सकती है।

आजकल घर में बने घोल से मुंह द्वारा जलीयकरण चिकित्सा (ओरल रिहाइड्रेशन थैरेपी) को बहुत अधिक विज्ञापित किया जा रहा है। इसमें मुंह द्वारा पीकर जल की पूर्ति की जाती है। मुंह से पिलाने वाले घोल को 8 चम्मच चीनी, एक चम्मच नमक और एक नींबू के रस को एक लीटर पानी में मिलाकर बनाया जा सकता है। यदि घर पर चीनी न हो तो 50 ग्राम फुलाये चावल का पाउडर भी इस्तेमाल किया जा सकता है।

सबसे अच्छी बात तो अतिसार से बचकर रहने में ही है। 'उपचार से बचाव भला' वाली पुरानी कहावत अतिसार पर भली-भांति लागू होती है (चित्र 12.)। खाना तैयार करने, बच्चे को गोद में लेने तथा घर से बाहर जाते हुए भी, हाथों को साबुन से अच्छी तरह बहते नल के नीचे धोना चाहिए। शौचालय से लौटकर हाथों को भली प्रकार धोएं। बच्चे का लंगोट बदलने

बर्तनों को साफ करें
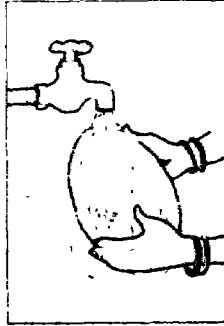
खाना बनाने या खाने से पूर्व हाथों को अच्छी तरह धोएं
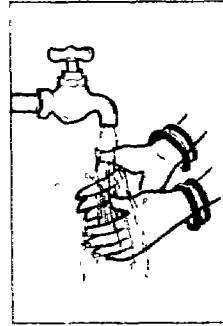
धूल, मक्खियों और तिलचट्टों से भोजन को बचाएं
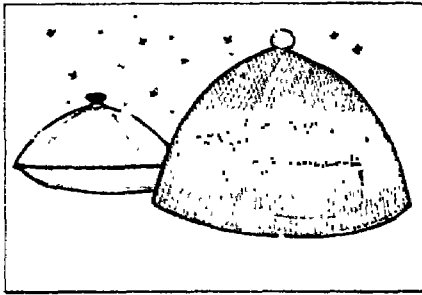
बच्चों को स्तनपान कराएं

चित्र 12. अतिसार से बचाव
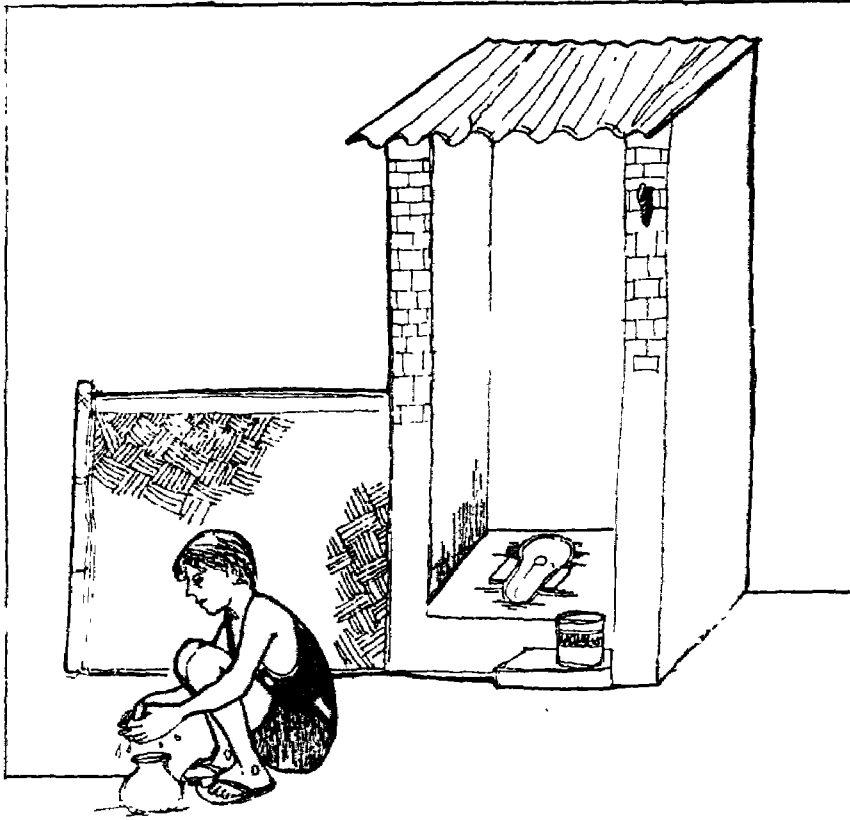
चित्र 13. उचित सफाई और शौचालय सुविधाएं।

या कपड़े अथवा बिछौना धोने के बाद हाथों को अच्छी तरह धोएं। शौच के बाद एक अन्य साबुन से दुबारा हाथ धोना भी उचित माना गया है। गंदे तौलियों का प्रयोग न करें। हमेशा ताजा भोजन परोसें तथा बचे भोजन को फ्रिज में रख दें। बाजार की खुली खाद्य सामग्री का प्रयोग न करें, विशेषतया चाट-पकौड़ी या गोलगप्पों का। ये बीमारी की जड़ हैं। शौचालय को रबड़ के दस्ताने पहनकर अच्छी तरह साफ करें। प्रयोग के बाद दरवाजा, फ्लश की जंजीर, हेंडिल, सीट और फर्श आदि को, यदि हो सके तो, इसी क्रम में साफ करें। शौचालय साफ करने के लिए यदि पाउडर व ब्रश का प्रयोग करें तो उसे तुरंत पानी से धो डालें। स्वच्छता और व्यक्तिगत सफाई अतिसार से बचाव के अचूक नुस्खे हैं।
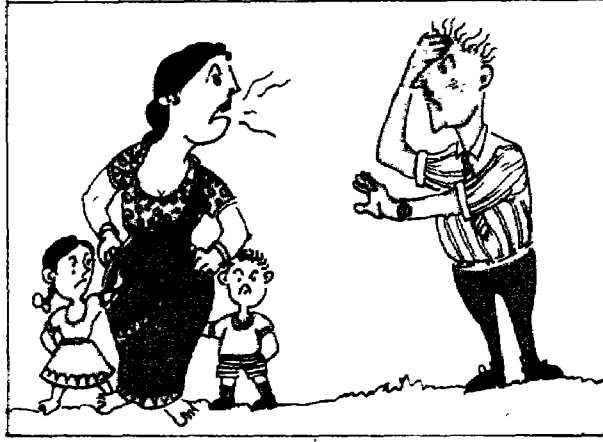
"तुम्हारा हर वक्त की बक-बक से मुझे सिर दर्द हो जाता है।"

सिर दर्द

सभी व्यक्ति जीवन में कभी न कभी सिर दर्द झेल चुके हैं और कुछ तो इससे प्रायः पीड़ित रहते हैं। इसके निवारण के लिए हर घर में एस्पिरिन उपलब्ध रहती है। सिर दर्द कभी हल्का होता है, कभी तेज और कभी-कभी तो इतना कष्टदायक कि डाक्टर के पास जाना मजबूरी हो जाती है। सिर दर्द इतना असुविधाजनक व कष्टदायक होता है कि हम अप्रिय व परेशान करने वाले व्यक्तियों को 'वह सिर दर्द है' तक कह डालते हैं।

कभी-कभार होने वाला सिर दर्द कोई 'सिर दर्द' नहीं – एक गोली एस्पिरिन ले लीजिए (बेशक, बिना डाक्टर की सलाह के)। यदि वह बार-बार होता है तो यह किसी अन्य गंभीर रोग का परिचायक है। बिना चिकित्सक की सलाह के इसे गोली से दबाना खतरनाक हो सकता है। साधारण नियम के अनुसार तीन महीने से अधिक अवधि तक, प्रति सप्ताह दो

से अधिक बार होने वाला सिर दर्द मामूली नहीं है। उस स्थिति में चिकित्सक से परामर्श अवश्य करें।

सबसे कम हानिकारक तथा सबसे अधिक पाया जाने वाला सिर दर्द तनाव से उत्पन्न सिर दर्द कहलाता है। जैसा कि नाम से जाहिर है यह अधिक तनाव, दुख, चिंता व कार्य के अधिक बोझ के कारण होता है। अतः सभी प्रकार के सिर दर्द में, तनाव से उत्पन्न सिर दर्द को कम से कम आज की सभ्यता की दी हुई बीमारी कहा जा सकता है। यह पूरी तरह कहना मुश्किल है कि क्या पुराने जमाने के व्यक्ति भी इस सिर दर्द से पीड़ित होते थे। सिर दर्द का रोगी इतना चिड़चिड़ा हो जाता है कि वह किसी से बात करना भी पसंद नहीं करता। समस्याएं कई प्रकार की हो सकती हैं, चाहे वह कार्यालय में बॉस से संबंधित हों या फिर नये मकान की अगली किश्त से संबंधित। इन समस्याओं के बारे में अधिक सोचने से मस्तिष्क में रक्त की अधिक मात्रा इकट्ठी हो जाने से सिर दर्द हो जाता है। खोपड़ी की मांस पेशियां खिंच कर दर्द को और बढ़ा देती हैं। ऐसा दर्द अक्सर शाम के समय होता है और आराम करने से आसानी से दूर हो जाता है। कुछ सीमा तक एस्पिरिन से लाभ होता है, परंतु प्रशांतक औषधियां तनाव को समाप्त करने में अधिक सक्षम हैं। खोपड़ी तथा कनपटियों की धीमी मालिश मांसपेशियों को सामान्य करने में मदद करती है। कुछ लोग माथे पर बाम लगाना पसंद करते हैं। इनसे कोई हानि नहीं होती, विशेषकर गर्भवती महिलाओं के मामले में जो दवाई नहीं ले सकतीं। वैसे भी गर्भधारण की स्थिति में कम से कम औषधियां लेनी चाहिए क्योंकि उनसे भ्रूण पर अवांछनीय प्रभाव पड़ सकता है। सिर दर्द के बाम में एक ऐसा पदार्थ होता है जो त्वचा को उत्तेजित करता है। यह उत्तेजना इतनी हल्की होती है जिसे आसानी से सहन किया जा सकता है। परंतु यह मस्तिष्क को जाने वाले संवेदक आवेगों को भी रोकती है। यहां तक की यह दर्द अनुभूति को भी मस्तिष्क तक नहीं पहुंचने देती। इस अवरोध की तुलना साईकिल चलाने वालों के उस झुंड से की जा सकती है जो सड़क पर चलने वाले अन्य वाहनों, ट्रकों व बसों की सामान्य गति को रोक देते हैं। दर्द की अनुभूति के मास्तिष्क तक न पहुंच पाने के कारण रोगी अपने को दर्द से मुक्त पाता है। इस स्थिति को प्रति-उत्तेजन, तथा बाम में मौजूद उत्तेजक पदार्थ को प्रति-उत्तेजक कहते हैं। इन पदार्थों में अधिकतर तारपीन का तेल, मिथाइल सेलिसिलेट तथा मेंथोल होते हैं। ताप भी बहुत अच्छा प्रति-उत्तेजक होता है इसीलिए सिकाई या इन्फ्रा-रेड प्रकाश से गर्मी पहुंचाकर गठिया के दर्द को ठीक करते हैं।

कभी-कभी बच्चे स्कूल से लौटने पर या कुछ समय तक लगातार पढ़ने के बाद सिर दर्द की शिकायत करते हैं। ज्यादातर इसे तनाव से उत्पन्न दर्द कहा जाता है, परंतु प्रायः यह दृष्टि दोष के कारण हो सकता है। इसका अर्थ है कि बच्चों को चश्मे की आवश्यकता है। इसी प्रकार यदि बच्चा क्लास में पीछे की सीट पर बैठता है और वह ब्लैकबोर्ड पर लिखे को स्पष्ट नहीं पढ़ पाता, तब भी यह दृष्टि कमजोर होने का द्योतक है। ऐसे बच्चों को दृष्टिमितिज्ञ या

नेत्र-विज्ञानी के पास ले जाना चाहिए, जो उनसे कुछ दूरी पर टंगे चार्ट को पढ़वाकर उनकी आंख की 'शक्ति' की जांच करेगा। इस चार्ट पर अंग्रेजी या हिंदी में नीचे की ओर छोटे-छोटे अक्षर अलग लाइनों में लिखे होते हैं। आंख की जांच के लिए ये चार्ट सन् 1843 में सबसे पहले हेनरिख कुचलर ने बनाये थे जिन्हें बाद में सन् 1854 में वियना के वॉन जेगर ने सुधारा था। उसके कुछ समय बाद नीदरलैंड के हर्मन स्नेलेन ने अपना चौकोर आकृति वाले अक्षरों का चार्ट बनाया जो आजकल काम आने वाले चार्ट जैसा ही था। इन चार्टों को स्नेलेन चार्ट कहा जाता है। यदि चिकित्सक को आंख में कोई दोष नजर आता है तो वह चश्मे की सलाह देता है। चश्मे से सिर दर्द फौरन दूर हो जाता है।

अधिक आयु वाले व्यक्तियों में अक्सर अलग प्रकार का टीस मारने वाला तेज सिर दर्द होता है। इसमें उन्हें सिर में स्पन्दन या धड़कन जैसी महसूस होती है। यह दर्द प्रायः प्रातःकाल में अधिक तेज होता है। नीचे झुकने पर भी यह बढ़ जाता है। इसमें माथा और कनपटियां सबसे अधिक प्रभावित होती हैं। दर्द के साथ चक्कर भी आते हैं। ऐसे लक्षण होने पर रक्तचाप की जांच कराना आवश्यक है क्योंकि हो सकता है कि रक्तचाप बढ़ गया हो। ऐसी स्थिति में चिकित्सक इसे कम करने के लिए औषधि देगा जो संभवतया रोगी को जीवन-पर्यंत लेनी पड़े।

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिर दर्द द्वारा दिये गये संकेतों की परवाह न करने से हमें कितनी हानि उठानी पड़ सकती है। सामान्यतया सिर दर्द स्वयं में कोई रोग नहीं है। वह किसी गंभीर रोग का सूचक है। अतः इस संदेशवाहक की बात एस्पिरिन की गोलियों से दबा देना नितांत मूर्खता है और इससे परिणाम खतरनाक हो सकते हैं।

सिर दर्द कौन सी अन्य सूचनाएं देता है? कई स्त्रियों में महावारी से एक सप्ताह पूर्व सिर दर्द होता है। इसे मासिक धर्म से पूर्व का सिर दर्द कहते हैं। यह शरीर में द्रव पदार्थ के अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाने के कारण हो सकता है। हॉर्मोनों के संतुलन बिगड़ने का भी इस पर प्रभाव हो सकता है। इस स्थिति में चिकित्सक कोई मूत्रल औषधि देकर बढ़े हुए द्रव को मूत्र द्वारा शरीर से निष्कासित कर सकता है।

कई बार शिशु बिना चुप हुए लगातार रोते चले जाते हैं। उनके रोने का एक कारण सिर दर्द भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में चिकित्सक आमतौर से बच्चे के गले और कानों की जांच किसी संभावित संक्रमण के लिए करते हैं। संक्रमण भी बच्चो के सिरदर्द और कष्ट का कारण हो सकता है।

चेहरे के अगले भाग के मंद परंतु गहरे दर्द में, जो जाड़ों में व झुकने पर बढ़ जाता है, नाक से एक मवाद जैसा पदार्थ निकलता है। ये साइनुसाइटिस रोग के लक्षण हैं। इसके बारे में हम अगले अध्याय में चर्चा करेंगें। इस प्रकार का दर्द अति कष्टदायक होता है। यह उस

बिन बुलाये और जिद्दी अतिथि की भांति है जिसे घर से निकालने के लिए कोई बढ़िया युक्ति ढूंढ़नी पड़ती है।

रुग्ण और क्षरित दांतों से भी सिर दर्द हो जाता है। इन सब बातों से आश्चर्य होता है कि भिन्न रोग कैसे सिर दर्द उत्पन्न करते हैं। वास्तव में इनमें से अधिकतर सिर दर्द सांदर्भिक हैं। चिकित्सकों के अनुसार सांदर्भिक वेदना वह होती है जब शरीर के एक भाग का रोग किसी दूर के भाग में दर्द उत्पन्न करता है। उदाहरण के रूप में, हृदयशूल की वेदना केवल सीने के बाई ओर ही नहीं बल्कि पूरी बाई बाजू तक फैल जाती है। इसकी जानकारी बड़ी रोचक है। मस्तिष्क तक दर्द की अनुभूति पहुंचाने वाली नाड़ियां एक बड़े वृक्ष की भांति होती हैं जिसकी अनेकों शाखाएं होती हैं। स्नायु कोशिका सूक्ष्मदर्शी यंत्र के नीचे देखे जाने पर वास्तव में एक वृक्ष की तरह लगती है। स्नायु-शाखाएं या 'डेंड्राइट' की उत्पत्ति यूनानी भाषा में वृक्ष के लिए उपयोग किये जाने वाले शब्द 'डेंड्रोन' से हुई है। स्नायु-कोशिका की विभिन्न शाखाएं या डेंड्राइट शरीर के कितने ही भागों से वेदना-अनुभूति ले जा सकती हैं। उदारणार्थ, त्रिधारा स्नायु
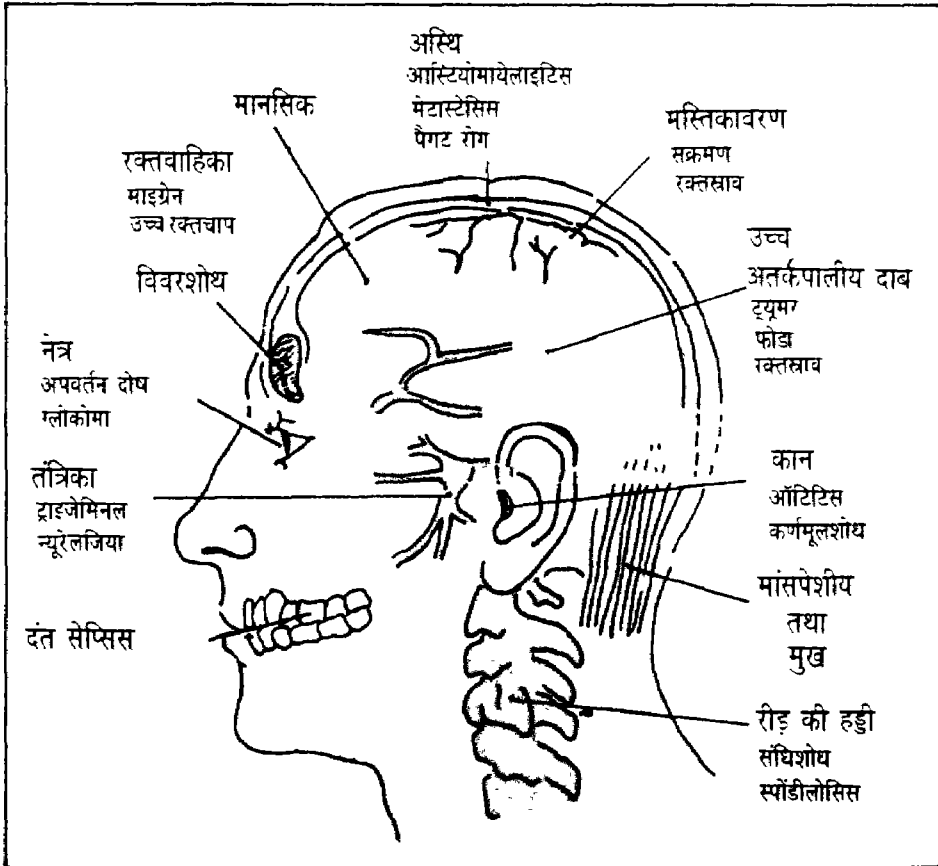
(ट्राइजेमिनल नर्व) सिर और चेहरे के अधिकतर भागों से दर्द की अनुभूति ले जाती है। अतः यदि चेहरे के एक भाग में दर्द है तो यह चेहरे के दूसरे भाग, या पूरे चेहरे व सिर में होता प्रतीत होगा। चित्र 14. में दिखाया गया है सिर में होने वाला दर्द किस प्रकार और हिस्सों में होने वाले दर्द का प्रतीक है। इनके कुछ उदाहरण हम पहले ही बता चुके हैं।

सिर दर्द का एक अन्य कारण गर्दन की हड्डियों में घिसाव है जिसे तकनीकी भाषा में स्पोंडिलोसिस कहते हैं। कान के अदंर की विभिन्न रचनाओं में प्रदाह तथा कान के पीछे की ओर निकली छोटी हड्डी में प्रदाह भी सिर दर्द के लिए उत्तरदायी है। चूंकि इनसे होने वाला सिर दर्द आम बात नहीं है, अतः इनकी गहन जानकारी अधिक लाभदायक नहीं है। इनके बारे में थोड़ा सा बताना इसलिए आवश्यक था ताकि सिर दर्द के कारणों की व्यापकता का अनुमान हो सके।

सिर दर्द का एक उग्रतम स्वरूप है अधसीसी (माइग्रेन) जिसके बारे में विशेष जानकारी आवश्यक है। इसमें दुःसाध्य सिर दर्द के साथ मितली और उलटी आना तथा सुनने, बोलने और देखने में बाधा उत्पन्न होती है। प्रायः यह दर्द सिर के आधे हिस्से में होता है और कभी-कभी पूरे सिर में भी। यह रोग काफी प्रचलित है। कुल जनसंख्या का लगभग 5 प्रतिशत भाग इससे पीड़ित है। पुरुषों के मुकाबले में यह महिलाओं में अधिक होता है। यह वंशानुगत भी है। इसके दौरे प्रायः किशोरावस्था या युवावस्था के प्रारंभ से पड़ने लगते हैं।

अधसीसी का दौरा पड़ने से कुछ देर पहले ही रोगी को इसका आभास हो जाता है। यह आभास दृष्टि में बाधा, जैसे चमकदार सितारे या टेड़ी-मेड़ी रेखाएं दिखाई देने, के रूप में हो सकता है। ऐसा दोनों आंखों से दिखाई देता है। इस आभास के कुछ समय बाद ही चेहरे, हाथ या पैरों में सुन्नता, झनझनाहट और कमजोरी महसूस होने लगती है। घबराहट के साथ चक्कर आने लगते है। बोलने में भी कुछ असुविधा होने लगती है। कुछ ही मिनटों में ये लक्षण शरीर के एक भाग से अन्य भागों में फैलने लगते हैं। प्रारंभिक लक्षणों के धीरे-धीरे समाप्त होते ही झनझनाहट वाला तेज सिर दर्द शुरू हो जाता है। दर्द सिर के उस भाग से विपरीत भाग में होगा जहां शुरू में सुन्नता या झनझनाहट हुई थी। अधिकतर रोगी प्रकाश से दूर रहना पसंद करते है। मितली और उलटी भी दर्द के साथ शुरू हो जाती है। बच्चों में उलटी और पेट में दर्द हो सकता है। इनके साथ सिर दर्द हो भी सकता है और नहीं भी। इस स्थिति को उदरीय अधसीसी (एबडोमिनल माइग्रेन) कहते हैं।

अधसीसी का दर्द कुछ घंटों से लेकर कई दिन तक रह सकता है। इसके दौरे सप्ताह में दो या तीन बार पड़ सकते हैं और कभी-कभी जल्दी भी। महिलाओं में इसका प्रकोप प्रायः उनके महावारी के दिनों में होता है।

अधसीसी का दर्द इतना तेज क्यों होता है? इसका क्या कारण है? मस्तिष्क में कितनी

ही ऐसी रक्तवाहिनियां हैं जो अनायास ही फैलती-सिकुड़ती रहती हैं। कई नाड़ियां इन रक्तवाहिनियों पर मकड़ी की तरह बैठी रहती हैं और जब भी ये नलिकाएं फैलती हैं तो ये नाड़ियां उत्तेजित होकर वेदना संवेदन पैदा करती हैं। वास्तव में विभिन्न प्रकार के सिर दर्द तथा अन्य प्रकार के दर्द धमनियों के फैलाव से उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए ज्वर की स्थिति में शरीर में एक विशेष रसायन, जिसे हिस्टामिन कहते हैं, शरीर में विमोचित होता है जो मस्तिष्क की रक्तनलिकाओं को फैलाकर सिर दर्द पैदा करता है। इसी प्रकार उच्च रक्तचाप में भी सिर दर्द हो जाता है। अतः रक्तनलिकाओं के फैलाव का सिर दर्द से गहरा संबंध है। यह स्थिति लगभग वैसी ही है जैसे किसी हौज पाइप में अधिक तेजी से पानी आने पर फैलाव आ जाता है और उसमें दबाव बढ़ जाता है। कई विष जिनमें कार्बन मोनोक्साइड और अलकोहल भी सम्मिलित हैं, इसी प्रक्रिया के द्वारा सिर दर्द पैदा करते हैं। अधसीसी के मामले में तो रक्त नलिकाओं में होने वाली धड़कन को कनपटियों के पास महसूस किया जा सकता है। कई रोगियों के अनुसार तो अधसीसी का दर्द गर्दन से मस्तिष्क में रक्त ले जाने वाली रक्तनलियों को धीरे से दबाकर दूर किया जा सकता है। ये नलियां केरोटिड धमनियां हैं जो गर्दन के दोनों ओर होती हैं। चिकित्सक इसके उपचार के लिए एर्गोटामिन युक्त औषधि देते हैं जो धमनियों को संकुचित कर दर्द से छुटकारा दिलाती है। ये औषधियां दौरे के कुछ मिनटों में लेने पर ही प्रभावशाली हैं। इनकी मात्रा का रोगी को विशेष ध्यान रखना चाहिए क्योंकि अधिक मात्रा में ये स्वयं सिर दर्द पैदा करती हैं। इन औषधियों को गर्भावस्था में किसी भी स्थिति में नही लेना चाहिए।

यद्यपि अधसीसी का मुख्य काराण धमनियों का फैलाव है, पर इसके लक्षणों की पूर्वानुभूति रक्तनलिकाओं अथवा रक्तवाहिनियों के एकाएक संकुचित होने के कारण होती है। कुछ व्यक्तियों में ये रक्त नलिकाएं क्यों फैलती और सिकुड़ती हैं, यह अभी तक स्पष्ट नहीं है।

अधसीसी पीड़ा अधिकतर उत्साही और कठिन परिश्रम करने वाले व्यक्तियों को होती है। यह अधिक कार्य करने या भावात्मक दवाव के कारण भी उत्पन्न होती है। अतः यदि आप अधसीसी के रोगी हैं तो इस प्रकार की परिस्थितियों से बचें। कभी-कभी यह तनाव की अवधि समाप्त होने पर जैसे सप्ताहांत या छुट्टी के दिनों में भी हो जाती है।

गर्भनिरोधक गोलियां भी अधसीसी पैदा करने या उसे बढ़ाने में सहयोग देती हैं। गर्भावस्था इसके दौरों को कम करती है। तेज प्रकाश या कई प्रकार के भोजन जैसे पनीर और चाकलेट तथा अलकोहल लेने से भी अधसीसी के दौरे पड़ जाते है। इसका कारण है कि इन भोज्य पदार्थों में फिनाइलईथाइलमीन नामक एक रसायन होता है जो रक्तनलिकाओं में फैलाव उत्पन्न करता है।

अधसीसी का मरीज धीरे-धीरे उन परिस्थितियों या कारणों से परिचित हो जाता है जो

दौरे पैदा करते हैं। उदाहरण के रूप में वह किसी विशेष भोजन या पेय को दौरे के कारण के रूप में पहचान लेगा। इसका पता लगने पर उस भोजन से दूर रहकर अधसीसी से बचा जा सकता है।

सबसे अच्छा तरीका पूरे महीना हर रोज की डायरी लिखने का है, जिसमें न केवल दौरे वाले दिन की घटनाओं का वर्णन हो बल्कि महीने के हर दिन का भी हो। डायरी में प्रातः उठने का समय, भोजन का समय, खाने-पीने का विवरण, मौसम तथा किसी भावात्मक दबाव या शारीरिक थकान का वर्णन लिखें। इससे कई बार उन बातों का पता चल जाता है जो अधसीसी को उभारती हैं। खाना छोड़ने से हुआ रक्त में शर्करा का नीचा स्तर भी दौरे उत्पन्न कर सकता है, अतः आहार नियमित रूप से लेना चाहिए। यदि आपको लगे कि गर्भ निरोधक गोलियों से दौरा पड़ता है तो गर्भ निरोधक की दूसरी विधि अपना लीजिए।

नियमित व्यायाम, जैसे तेज चलना, जोगिंग, तैराकी या योग द्वारा अधसीसी से बचा जा सकता है, क्योंकि इनसे शरीर को विश्राम मिलता है। ध्यानमुद्रा से भी कई लोगों को लाभ होता है। दौरे से बचाव की ये विधियां रोग से पूरी तरह छुटकारा दिला सकती हैं। वैसे उम्र के साथ दौरे कम और हल्के होते जाते हैं। महिलाओं में रजोनिवृत्ति (माहवारी समाप्ति की प्रक्रिया शुरू होना) से अधसीसी पूरी तरह दूर हो जाता है।

एस्पिरिन से अधसीसी में कोई लाभ नहीं होता। अन्य प्रकार के सिर दर्द में एस्पिरिन आज भी मुख्य औषधि है। यह सबसे अधिक प्रयोग की जाने वाली सुरक्षित एवं सस्ती दवाई है। कुछ चिकित्सक तो इसे पूरे औषधि परिवार का सबसे उपयोगी सदस्य मानते हैं। वैसे भी, यह मानव द्वारा उपयोग की गई औषधियों में सबसे पुरानी है। यद्यपि शुद्ध एस्पिरिन को पिछली शताब्दी में ही बनाया गया, पर इस औषधि से युक्त जड़ी-बूटी के काढ़ों का उपयोग दर्द के निवारण हेतु प्राचीन काल से ही हो रहा है। वास्तव में, एस्पिरिन नाम स्पाइरेइया पौधों के वर्ग से लिया गया है जिनमें सबसे पहले इस औषधि के होने का पता लगा था। इस वर्ग के मुख्य पौधों में ब्राइडलरीथ, मीडोस्वीट, तथा हार्डहेक हैं। इसके अलावा एस्पिरिन (या सेलिसिलिक एसिड) झाड़ी वर्ग के पौधों (चमेली, मजीठ, पार्टिरिजबेरी), कई फलीदार पौधों (मटर, फलियां, क्लोवर), घास प्रजाति के पौधों, (व्हीट राई, गन्ना) पेड़ों (बीच, भूर्ज बर्च, जैतून, पहाड़ी पीपल तथा भिसा (विलो) में भी पाई जाती है। भिसा अर्थात् विलो वृक्ष (जिससे क्रिकेट के बल्ले बनते हैं) के रस का ईसा से चार शताब्दी पूर्व हिप्पोक्रेट्स ने सिर दर्द के लिए परामर्श दिया था। लिपज़िग विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्र के प्रोफेसर हरमन कोल्बे ने इसके क्रियाशील अंश, सेलिसिलिक एसिड को सबसे पहले सन् 1874 में प्रयोगशाला में बनाया। एक अन्य युवा वैज्ञानिक फेलिक्स हॉफमैन ने सन् 1899 में इसे एसिटाइल ग्रुप के साथ सम्मिलित कर सुरक्षित बनाया। यही वह औषधि एस्पिरिन या 'एसिटाइल सेलिसिलिक एसिड' है जिसे हम सब सिर दर्द के

लिए लेते रहते हैं।

एस्पिरिन भले ही कितनी उपयोगी हो, यह दुष्प्रभावों से परे नहीं है। इसलिए बेहतर है कि सिर दर्द होने ही न दिया जाये। तनाव-जनित सिर दर्द आराम करके दूर किया जा सकता है। कितने ही ऐसे व्यायाम हैं जिनसे विश्राम मिलता है परंतु उनका यहां वर्णन करना न संभव है और न आवश्यक ही। एक सीधी-सादी विश्राम-क्रिया है : टेलीफोन का चोगा क्रेडिल से हटाकर रख दें। दिन का वह भाग चुनिए जो तनाव मुक्त हो (प्रातःकाल या सायंकाल इसके लिए सबसे अच्छे हैं। भोजन के बाद व्यायाम न करें)। फर्श पर कंबल बिछाएं, ढीले कपड़े पहनें (कसने वाला कोई वस्त्र शरीर पर न हो), जूते टाई उतार दें, ब्रा की पट्टी खोल दें, तथा सहारा लेकर बैठ जायें। मस्तिष्क को अनर्गल विचारों से दूर रखें। नियमित और गहरे सांस लें। ज्यों ही सांस क्रिया व्यवस्थित हो, मन में आनंद व खुशी देने वाले विचार आने दें। इससे तनावपूर्ण मांसपेशियां ढीली हो जायेंगी। अब क्रमबद्ध तरीके से शरीर के सभी भागों को विश्राम दें। पैरों से आरंभ करें : पहले पैर की मांसपेशियों को खींचें और 10 सेकिंड तक उसी स्थिति में रखकर ढीला छोड़ें। ढीला छोड़ते समय विश्राम महसूस करें। मन में इससे मिले आनंद की

चित्र 15. तनाव जनित सिर दद दिन के उत्तरार्ध में अधिक तेज होता है। गर्दन की मांसपेशियों की मालिश सिर दर्द से आराम दिलाने और दर्द से छुटकारा दिलाने का एक उपाय है।

अनुभूति लें। धीरे-धीरे शरीर के ऊपर के भागों की ओर आयें। इन्हें भी इसी प्रकार खींचें और फिर ढीला छोड़ें। यह क्रिया 10 मिनट तक करें और फिर अगले 10 मिनट तक सामान्य होने का प्रयास करें। कंबल पर सीधे लेट या बैठ जायें, आराम महसूस करें तथा गहरी सांस लेते रहें। फिर धीरे से उठकर अपनी दिनचर्या प्रारंभ कर दें।

शरीर को विश्राम देने वाले व्यायामों से सिर दर्द में सबसे अधिक लाभ होता है। यदि आप धूम्रपान करने के आदी हैं तो इसे छोड़ दें, क्योंकि यह सिर दर्द बढ़ाने में मदद करता है। चाय या कॉफी की मात्रा भी कम कर देनी चाहिए। शराब पूरी तरह बंद कर दें। नियमित व विश्रामपूर्ण दिनचर्या निश्चित ही आपको इस झंझट से छुटकारा दिला सकती हैं।
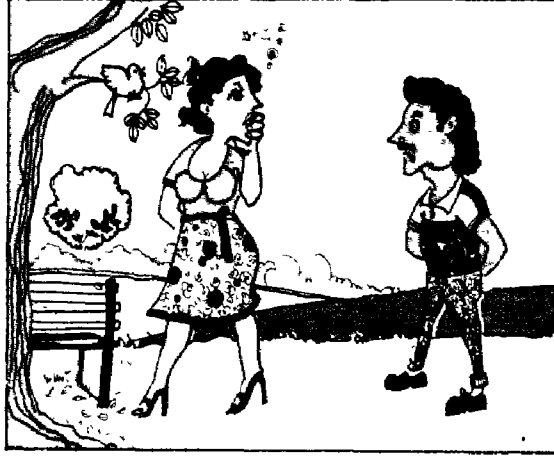
"नहीं प्रिये, मुझे किसी ने पीटा नहीं। मुझे कनपेड़ा रोग हो गया है।"

कनपेड़ा

कनपेड़ा एक ऐसा रोग है जिसकी पहचान 10 फुट की दूरी से सामान्य व्यक्ति भी कर सकता है। इसमें रोगी का एक गाल या दोनों गाल इस तरह फूले हुए दिखाई देते हैं कि देखने वाले को बड़ा अस्वाभाविक लगता है। यह सूजन वास्तव में एक बड़ी स्राव ग्रंथि अर्थात् कर्णमूल-ग्रंथि के कारण होती है जिसे पेरोटिड ग्रंथि कहते हैं। यह दोनों कानों के नीचे गाल के पिछले भाग में होती है। इस ग्रंथि का नाम इसके स्थान के कारण पड़ा है। 'पेरोटिड' का अर्थ है 'कान के आसपास'। कई चिकित्सक मम्प्स (कनपेड़ा) को 'पेरोटाइटिस' जैसे कठिन नाम से पुकारते हैं। इस का अर्थ है —पेरोटिड ग्रंथि की जलन। इसमें विशेष रूप से जबड़ों में हरकत होने पर तीक्ष्ण पीड़ा होती है और बोलने में असुविधा होती है। अतः अंग्रेजी का नाम मम्प्स एक दूसरे शब्द 'मम्बलिंग' से बना है, जिसका अर्थ है 'मुंह ही मुंह में बोलना' या 'अस्पष्ट बोलना'। इस रोग का रोगी इसी प्रकार बोलता है। यह रोग भी अत्यंत पुराने ज्ञात संक्रामक रोगों में से

एक है। हिप्पोक्रेट्स ने ईसा से पांच शताब्दी पूर्व इसका उल्लेख किया है। पेरोटिड ग्रंथि के अलावा यह रोग शरीर की अन्य ग्रंथियों जैसे अग्न्याशय, थायरॉयड, डिम्ब ग्रंथि, स्तन और सबसे अधिक अंडकोशों को प्रभावित करता है जो सेब के बराबर बढ़ जाते हैं और उन्हें संभालने के लिए लंगोट पहनना पड़ता है। इस प्रकार की सूचना भी है कि कनपेड़ा होने के बाद कुछ रोगी अपनी प्रजजन शक्ति खो बैठते हैं, परंतु यह बहुत कम होता है।

कनपेड़ा एक अत्यंत सूक्ष्म विषाणु, मिक्जोवायरस पेरोटिटिडिस, के कारण होता है जो विषाणुओं के मिक्जोवायरस वर्ग का सदस्य है। हम इसके एक निकट संबंधी, इन्फ्लुएंजा विषाणु के बारे में पहले ही जान चुके हैं जो इससे मिलती-जुलती, ऑर्थोमिक्जोवायरस जाति का है। इस विषाणु का आकार 80 से 240 नेनोमीटर (एक नेनोमीटर एक मीटर के एक अरबवें भाग के बराबर होता है) तक होता है। यह रोग किसी संक्रमित व्यक्ति द्वारा खांसने और छींकने से फैलता है। कनपेड़ा का रोगी गालों में सूजन आने से दो दिन पूर्व ही विषाणुओं को लार में छोड़ने लगता है जो सिलसिला रोग दब जाने के बाद भी एक सप्ताह तक चलता रहता है।
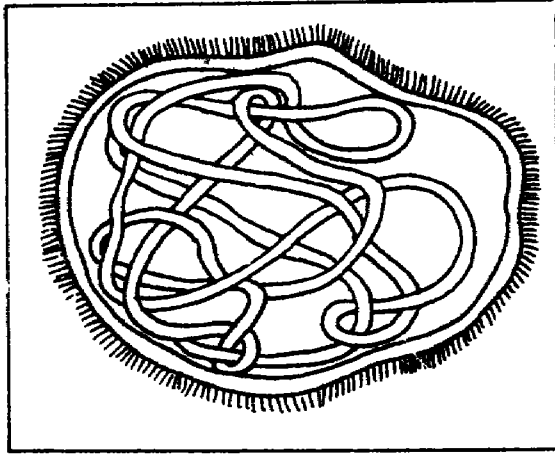
चित्र 16. कनपेड़ा का विषाणु।

यह परिस्थिति बड़ी भ्रामक हैं, क्योंकि इस रोग के प्रसार से पूर्णतया परिचित व्यक्ति भी तब तक ही सतर्कता बरतता है जब तक उसे सामने वाले व्यक्ति के रोगी होने का ज्ञान है। परंतु इस स्थिति में रोग के लक्षण उभरने से पहले ही विषाणु फैलने शुरू हो जाते हैं और कितने ही व्यक्ति इस अवधि में रोग की पकड़ में आ जाते हैं।

स्वस्थ व्यक्ति के मुख में प्रवेश पाने के तुरंत बाद ही यह विषाणु अपनी घृणित कार्यवाही शुरू नहीं कर देता। यह गले के पिछले भाग में स्थिर हो जाता है और लगातार अपनी संख्या बढ़ाता रहता है। इस प्रकार हमले के लिए एक पूरी फौज तैयार हो जाती है। हमले की तैयारी

चित्र 17. कनपेडा का रोगी। बाएं गाल पर सूजन देखें।

की यह अवधि (उद्भवन काल) 14 से 21 दिन की होती है। इसके पूरा होते ही यह छिपी सेना तेजी से निकलकर उन स्थानों पर हमला बोल देती है जो इसे अति प्रिय हैं अर्थात् परोटिड ग्रंथियां।

रोग के पहले लक्षणों में हल्का बुखार, गला खराब होना तथा ठिठुरन लगना हैं जिनसे अक्सर इन्फ्लुएंजा का भ्रम हो जाता है। पेरोटिड ग्रंथि में पहले सूजन व पीड़ा शुरू हो जाती है, जिससे अधिक मुंह खोलने और खाना खाने में अत्यंत कष्ट होता है। बुखार बढ़ कर 39.4 सें.ग्रे. (103 फा.) तक पहुंच जाता है। प्रायः एक ओर की ग्रंथि में ही सूजन आती है परंतु वह दूसरी ग्रंथि तक भी फैल सकती है। इनमें से कुछ ग्रंथियां जीभ के नीचे स्थित होती हैं जिन्हें उपजिह्वा ग्रंथियां कहते हैं। इनमें सूजन आने से जीभ बुरी तरह सूजकर फूल जाती है। सूजन दो या तीन दिन तक बढ़ती रहती है और फिर धीरे-धीरे कम होती जाती है। बुखार भी कम होने लगता है। रोगी पूरी तरह स्वस्थ होकर सामान्य ढंग से खाना खाने लगता है। कनपेड़ा का एक बार प्रकोप होने के बाद रोगी बाकी जीवन भर इससे बचा रहता है। इसका कारण है शरीर की सुरक्षा सेनाओं द्वारा इस आक्रामक सेना की पहचान हो जाना और फिर उसे दुबारा न पनपने देना।

वैसे कनपेड़ा कोई खतरनाक रोग नहीं है परंतु इसका विषाणु अन्य ग्रंथियों तथा मस्तिष्क सहित नाड़ी संस्थान में प्रदाह पैदा कर सकता है। पुरुषों में कनपेड़ा रोग की स्थिति में लगभग 20 प्रतिशत रोगियों के दोनों या एक अंडकोश में प्रदाह, वृषणशोथ (ओर्काइटिस) पैदा हो जाता
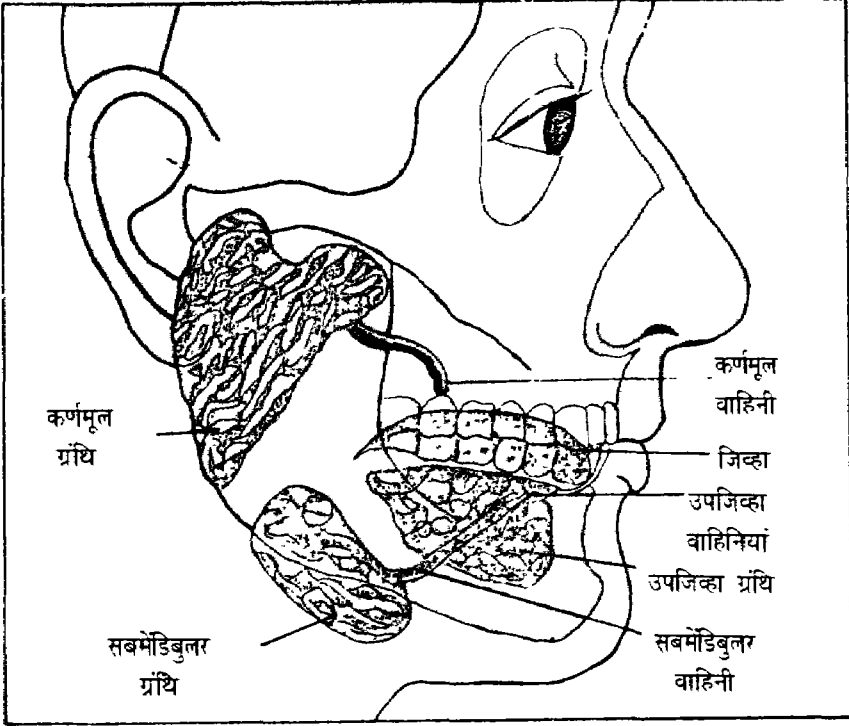
चित्र 18 कनपेड़ा से प्रभावित पेरोटिड ग्रंथि तथा अन्य लार प्रमुख ग्रंथियां।

है। अंडकोश बढ़कर बड़े आकार के हो जाते हैं। ऐसा पेराटिड ग्रंथि में सूजन आने के एक सप्ताह बाद होता है। अंडकोशों में वृद्धि के कारण रोगी को बिस्तर पर पड़े रहना पड़ता है। चिकित्सक प्रायः अंडकोशों को लंगोट आदि से सहारा देने को कहते हैं। कुछ बर्फ का प्रयोग करना पसंद करते हैं। अन्य स्टिरॉयड औषधियों की सलाह देते हैं जो प्रदाह को समाप्त कर देती हैं। एक सप्ताह में आमतौर से अंडकोश पूर्वावस्था में आ जाते हैं। कितने ही रोगियों को इसके बाद अपनी यौन क्षमता तथा प्रजनन शक्ति के बारे में चिंता हो जाती है। इन दोनों का अंतर स्पष्ट करना यहां आवश्यक है क्योंकि लोगों को प्रजननहीनता तथा नपुंसकता के बारे में भ्रांति हो सकती है। प्रजनन शक्ति से रहित व्यक्ति सामान्य रूप से संभोग कर सकता है। इसके विपरीत नपुसंक सामान्य संभोग के लिए अयोग्य होता है।

महिलाओं में वृषणशोथ के समान रोग डिम्बग्रंथिशोथ (ऊफोराइटिस) कहलाता है। इसमें डिम्बग्रंथियों में प्रदाह हो जाता है जिससे पेडू में गहरा दर्द और उलटियां होने लगती हैं। कभी विषाणु अग्न्याशय पर भी हमला कर देता है जिससे उदर के ऊपरी भाग में पीड़ा होने लगती है, बुखार आता है और उलटियां होने लगती हैं। डिम्बग्रंथिशोथ और अग्न्याशयशोथ लगभग 3-4 दिन में ठीक हो जाती है। महिलाओं में स्तनशोथ (मैस्टिटिस) हो सकता है, जिस स्थिति
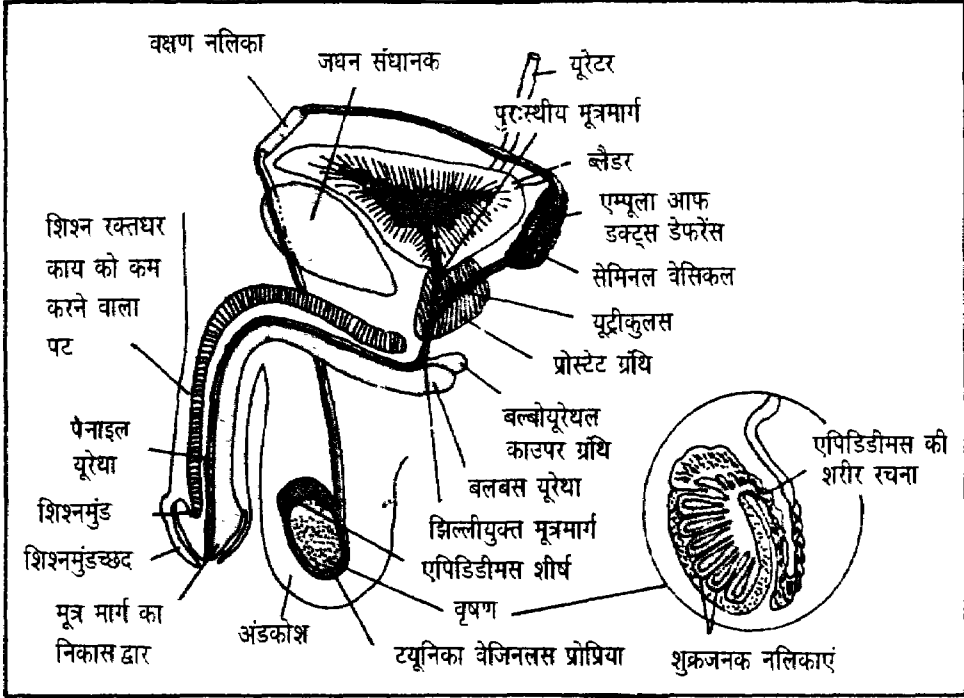
चित्र 19. नर उत्पादक अंगों का प्रोस्टेट ग्रंथि सहित चित्रण। इन पर कनपेड़ा का प्रभाव पड़ता है (इनसेट) अंडकोश।

में स्तनों को सहारा देना आवश्यक है। पुरुषों में पुरःस्थग्रंथिदाह (प्रोस्टेटिटिस), अर्थात् प्रोस्टेट ग्रंथि में प्रदाह, हो सकता है। यह ग्रंथि लिंग आधार के थोड़ा पीछे स्थित होती है।

लगभग एक प्रतिशत रोगियों में कनपेड़ा रोग के प्रारंभिक लक्षण दिखाई देने के करीब 10 दिन बाद गर्दन में हल्का दर्द, सिर दर्द तथा उलटियां होने लगती हैं। यह हल्के मस्तिष्कावरण शोथ का प्रतीक है जिसमें मस्तिष्क को ढंकने वाली झिल्ली में संक्रमण हो जाता है। ठीक होने के तीन-चार दिन बाद लक्षण गायब हो जाते हैं।

कनपेड़ा रोग से वास्तव में होने वाला गंभीर प्रभाव स्वयं मस्तिष्क का प्रदाह है। इसे मस्तिष्क शोथ या ऐनसिफेलाइटिस कहते हैं। यह कनपेड़ा जनित बहुत कम होने वाली जटिलता है जो तीव्र सिर दर्द, तेज बुखार और उलटियां पैदा करती है। अधिकतर यह परेशानी थोड़े समय के लिए होती है और रोग पूरी तरह ठीक हो जाता है। लेकिन थोड़ी सी संख्या में इस रोग से स्थायी विकलांगता या मृत्यु भी हो जाती है।

अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि क्या कनपेड़ा का विषाणु बढ़ते हुए भ्रूण पर भी प्रभाव डालता है। रुबेला विषाणु के भ्रूण पर हानिकारक प्रभाव डालने की इस रोग में आशंका नहीं होती, जो गर्भावस्था में ही बच्चे को अंधा, बहरा और मंदबुद्धि बना देता है। अतः यदि आप गर्भवती हैं और कनपेड़ा के किसी रोगी से आपको संक्रमण हो गया है तो घबराइये नहीं।

आपके शिशु को कोई समस्या नहीं होगी। सामान्यतः इस रोग के रोगी से गर्भवती स्त्री को सदैव बचना ही उचित है।

देहातियों में एक धारणा प्रचलित है कि पड़ोसी से मांग कर माला पहनने से कनपेड़ा रोग ठीक हो जाता है। सच्चाई इससे कोसों दूर है। अपेक्षाकृत पढ़े-लिखे लोगों की मान्यता है कि कनपेड़ा से लार ग्रंथियां हमेशा के लिए खराब हो जाती हैं। वास्तव में लार ग्रंथियां कभी स्थायी रूप से क्षतिग्रस्त नहीं होतीं और अगर हो भी जायें तो उनका बहुत कम हिस्सा निष्क्रिय होता है। प्रायः सभी ग्रंथियां सामान्य रूप से कार्य करती रहती हैं।

कनपेड़ा रोग का कोई विशेष उपचार नहीं है। हल्के प्रकोप में सादी दर्द-निवारक दवाएं दी जाती हैं तथा बिस्तर में पड़े रहना अनिवार्य नहीं होता। थोड़ी गंभीर अवस्था में ही रोगी को बिस्तर पर आराम करना चाहिए। रोगी को गर्म रखा जाये और उसे, जैसा कि अधिकतर ज्वर की स्थिति में किया जाता है, अधिक से अधिक तरल पदार्थ दें। ग्रंथि में जब ज्यादा सूजन हो और खाने में कष्ट होता हो तो सादे भोजन और अधिक मात्रा में पेय का सुझाव दिया जाता है। दर्द-निवारक गोलियों से दर्द कम होता है। हल्का नमक मिले पानी से बार-बार कुल्ला करना चाहिए ताकि मसूड़ों और लार ग्रंथियों में जीवाणुओं से संक्रमण पैदा न हो। नमक का पानी जीवाणुओं के शरीर से पानी खींचकर उन्हें तुरंत नष्ट कर देता है।

चेहरे में आये परिवर्तन से अक्सर बच्चे चिंतित हो जाते हैं। माता-पिता को उन्हें ढाढ़स बंधाना चाहिए। भारत में कनपेड़ा रोग का वेक्सीन बच्चों को देने की परंपरा नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में चिकित्सक की सलाह लेनी चाहिए।

साधारण कनपेड़ा रोग चिंता का विषय नहीं है। कुछ दिनों में ही इसका रोगी अन्य व्यक्तियों की तरह सामान्य हो जाता है। अधिक से अधिक सूजन भी 4 से 7 दिन में दब जाती है। संतोषजनक बात यह है कि यदि कोई एक बार इस रोग से पीड़ित हो जाये तो फिर वह जीवनभर इस रोग से निश्चिंत रह सकता है।
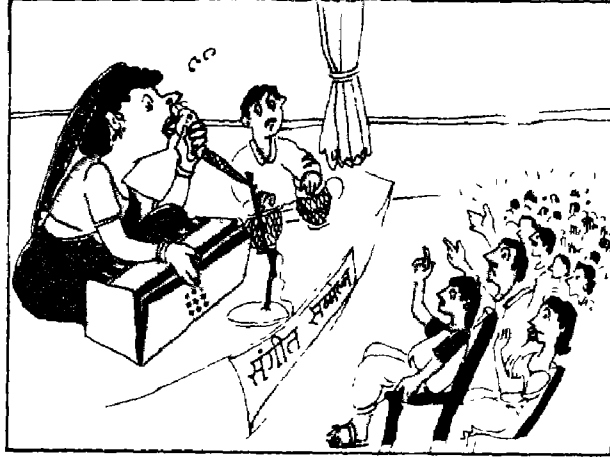
"इसकी मीठी, मधुर आवाज को क्या हुआ? आज तो इसकी फटी आवाज किसी पुरुष गायक की तरह लगती है।"

विवरशोथ

विवरशोथ (साइनुसाइटिस), विवर का संक्रमण या उसकी समस्या विशेष रूप से तंग करने वाला रोग है। यह बिना ठीक हुए वर्षों बनी रह सकती है। औषधियां कुछ समय के लिए भले ही इसे दबा दें या ठीक कर दें, परंतु अधिकतर यह फिर उसी प्रकार लौट आती है। आधुनिक प्रतिजैविकों एवं प्रभावी शल्यक्रिया के उपलब्ध होने से विवरशोथ रोग अब कष्टदायी नहीं रह गया है, पर इससे होने वाली परेशानी अभी तक मौजूद है।

खोपड़ी की हड्डियों के मध्य कुछ वायु-युक्त खाली स्थान हैं जिन्हें विवर कहते हैं। संभवतः इन्हीं के कारण खोपड़ी की हड्डियों का भार कम होता है। शाब्दिक अर्थों में ये खोपड़ी में छिद्र हैं। इनमें से अधिकतर नाक के आसपास स्थित हैं, अतः उन्हें परानासा विवर कहते हैं। परानासा यानी 'पैरानेज़ल' यूनानी शब्द है जिसका अर्थ 'नाक के समीप' है। कुछ व्यक्तियों में इनमें से कुछ विवर नहीं होते, पर इससे उन्हें कोई हानि नहीं होती। हां, एक लाभ अवश्य होता है,और

वह यह कि उन्हें जीवन में विवरशोथ रोग नहीं होता। अभी तक यह ज्ञात नहीं हो पाया है कि इन विवरों का क्या कार्य है। वैसे ये किसी काम के लगते नहीं।

शायद ये हमारे कपाल की मजबूती को बिना प्रभावित किए उसे हल्का बनाये रखने में सहयोग देते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि ये समीप ही स्थित मस्तिष्क को ताप से बचाते हैं। कुछ कहते हैं कि ये कपाल की हड्डियों के फ्रेक्चर को आगे तक नहीं बढ़ने देते। अतः यह माना जाता है कि ये मस्तिष्क की हड्डियों की रक्षा करते हैं। लेकिन साइनस हमारी आवाज में अनुनाद अथवा गूंज पैदा करते हैं। क्या कभी आपने गंभीर जुकाम से पीड़ित व्यक्ति की आवाज में आये अंतर पर ध्यान दिया है? वह गहरी, भारी और पहचान से परे हो जाती है। ऐसी स्थिति में विवर द्रव पदार्थ से भर जाते हैं, और अनुनाद की भूमिका अदा करना बंद कर देते हैं। हम सबने तार वाले वाद्ययंत्रों, जैसे सितार, गिटार या तानपूरा में लकड़ी का एक बक्सा जुड़ा देखा है। यह ध्वनि में अनुनाद पैदा करने का काम करता है। यदि इस अनुनाद पैदा करने वाले बक्से को पानी या किसी अन्य द्रव से भर दिया जाये, तो यंत्र से आने वाली ध्वनि बिल्कुल बदली हुई होगी। अच्छे गायको में संभवतः भली प्रकार विकसित परानासा विवर होते हैं और वे उनका सुंदर उपयोग करते हैं। ठंड या जुकाम होने की स्थिति में कुशल गायक भी गाने में असफल हो जाता है।

विवर हड्डियों से बने गुब्बारों की भांति होते हैं। उनकी दीवारें हड्डियों की होते हुए भी कागज जितनी पतली होती हैं। इनमें तरुण अवस्था तक विकास होता रहता हैं। जन्म के समय ये केवल नाममात्र को होती हैं और पूरे बचपन भर बढ़ती रहती हैं। इनमें होने वाले परिवर्तन के साथ-साथ बच्चे के चेहरे में भी परिवर्तन आता जाता है। यदि आपने किसी को केवल शिशु अवस्था में देखा है तो आप के लिए उसे किशोरावस्था में देखने पर पहचानना कठिन होता है। ये सब विवरों के विकास का कमाल है। नवजात शिशु का चेहरा सीधा-सादा तथा विशेष पहचान चिह्नों से रहित होता है। यही कारण है कि शिशु को देखकर कुछ संबंधी और मित्र उसका चेहरा मां से मिलता-जुलता और कुछ उसे बाप से मिलता हुआ बताते हैं। केवल विवरों का पूर्ण विकास होने के बाद ही चेहरे में पहचाने जाने का गुण आता है।

किन्हीं दो व्यक्तियों के विवरों का आकार और आकृति समान नहीं होती। हर व्यक्ति में इनका स्वरूप इतना विशिष्ट होता है कि इन्हें खोपड़ी की छाप कहा जा सकता है। उंगलियों की छाप की भांति ही इनका उपयोग भी व्यक्ति की पहचान के लिए किया जाता है। एक बार समुद्र के किनारे एक खोपड़ी पायी गयी जो शायद पिछली रात बह कर तट पर आ गयी थी। शायद किसी ने उस व्यक्ति को मारकर समुद्र में फेंक दिया होगा। जब चिकित्सक उसे पहचानने में असफल हो गये तो उन्होंने खोये हुए व्यक्तियों के विवरों की आकृति और आकार का मृतक के विवरों से मिलान करने का फैसला किया। उन व्यक्तियों की खोपड़ी के एक्स--रे अस्पतालों से प्राप्त किये गये। एक्स-रे चित्रों में विवरों की बनावट सही रूप से अंकित होती है। जांच

से उनमें से एक व्यक्ति को मृतक के रूप में पहचान लिया गया।

विवर प्रायः जोड़े में इस प्रकार स्थित होते हैं कि उनका आधा भाग चेहरे की मध्य रेखा के एक ओर होता है और दूसरा आधा भाग दूसरी ओर। इन रिक्त स्थानों (विवरों) का आन्तरिक भाग एक मुलायम झिल्ली से ढंका होता है जैसा कि नाक और श्वासनलिका में होता है। यह झिल्ली विवरों की दीवारों की रक्षा करती है। इससे एक प्रकार का तरल पदार्थ भी निकलता है जो सामान्यतः नासिका के रिक्त स्थान में एक छोटे छेद द्वारा बहता रहता है। कई बार यह द्रव छिद्र में रुकावट के कारण बह नहीं पाता जिससे विवर में द्रव इकट्ठा हो जाता है। यह द्रव जीवाणुओं की प्रिय स्थली है जिसमें वे तेजी से बढ़कर विवर संबंधी रोग पैदा कर देते हैं।

विवरों के चार जोड़े होते हैं। चित्र 20. में इन्हें भली-भांति दर्शाया गया है। ये चारों अलग-अलग ऊंचाई पर होते हैं। इसे हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि वे एक चार मंजिली इमारत की अलग-अलग मंजिल में रहते हैं। ललाट विवर (फ्रंटल साइनस) दूसरी मंजिल में, झर्झरिका विवर (एथमॉयडल साइनस) पहली में, जातूक विवर (स्फिनॉयडल साइनस) भूमितल पर तथा उर्ध्वहनु विवर (मैक्जिलरी साइनस) भूमिगत तल पर हैं। दूसरी और पहली मंजिलों के विवर अपना तरल पहली मंजिल के समीप स्थित एक नाली द्वारा निकालते हैं तथा भूमितल और भूमिगत तल पर मौजूद विवर इसे भूमितल के समीप की नाली द्वारा निकालते हैं। यद्यपि यह वर्णन अत्यंत एकांगी है परंतु इससे समझने में आसानी रहती है और अनावश्यक जानकारी से छुटकारा मिल जाता है। तरल विसर्जन विधि को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्ध्वहनु विवर औरों के मुकाबले सबसे अधिक घाटे में है क्योंकि इसे अपना तरल निष्कासित करने के लिए उसे ऊपर पहुंचाना पड़ता है। इस कारण अधिकतर तरल उर्ध्वहनु विवर में इकट्ठा हो जाता है और प्रायः संक्रमित रहता है। निष्कासन के मामले में सबसे उत्तम स्थिति ललाट विवर की है क्योंकि इससे बहने वाला तरल नीचे की ओर आसानी से चला जाता है। इस कार्य में इसे गुरुत्वाकर्षण का लाभ भी मिलता है। हां, मैक्जिलरी साइनस में गुरुत्वाकर्षण का लाभ उस समय अवश्य मिलता है जब कोई प्रभावित विवर की दूसरी ओर की करवट से लेटे। इसी प्रकार जातूक विवर साइनस से अच्छी तरह तरल निष्कासन के लिए चेहरा नीचे कर लेटना ठीक रहता है। चित्र 20. द्वारा इसे भली प्रकार समझा जा सकता है जिसमें प्रवाह नलिकाओं को वास्तविक रूप में प्रदर्शित किया गया है।

जिज्ञासा होती है कि अलाभकारी स्थितियों वाले विवर किस प्रकार अपने तरल का निष्कासन करते हैं। वास्तव में विवर कोष्ठों की सतह की मुलायम झिल्ली, जिसे एपिथीलियम या म्यूकोसा कहते हैं, के ऊपर बड़े छोटे-छोटे बाल या सीलिया होते हैं जो सदैव विवर द्वार की दिशा में गतिमान रहते हैं और सारे तरल को उस ओर धकेलते रहते हैं। यदि इस दृश्य को दस लाख गुणा बड़ा करके देखें तो लगेगा कि किसी बड़े खेत में पूरी तरह फसल उगी
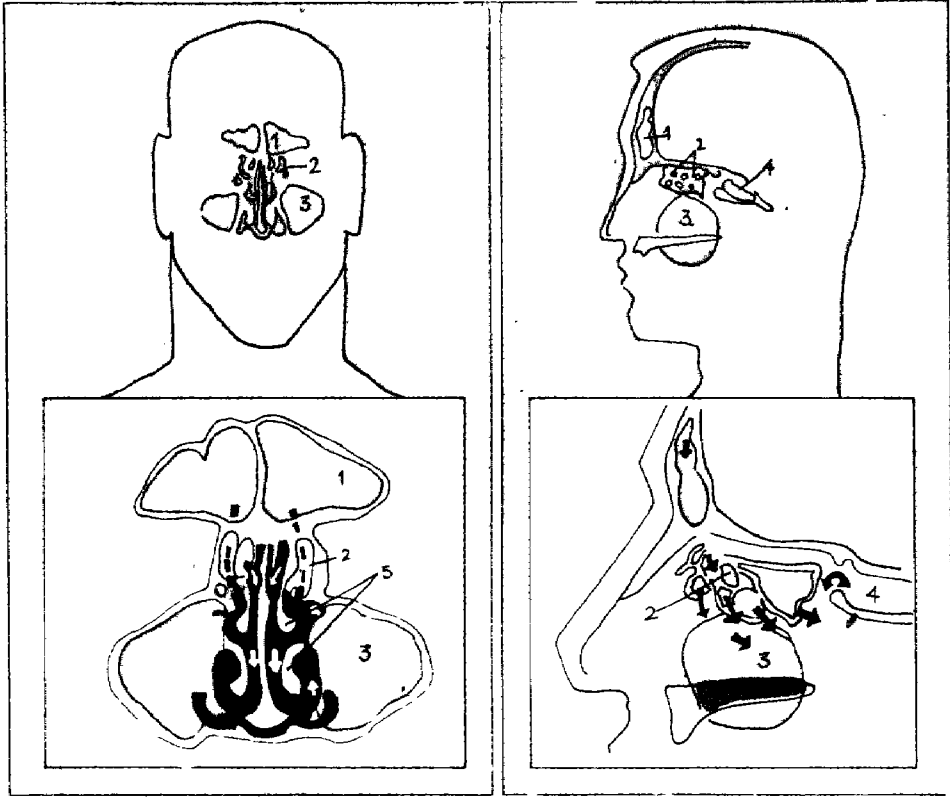
चित्र 20. प्रमुख परानासा विवरों की स्थिति—सामने और एक तरफ के दृश्य ललाट विवर (1); झर्झरिका कोशिकाएं (2), उर्ध्वहनु विवर (3); जातूक विवर (4); तथा शुक्तिकाएं (5)। तीर द्वारा विभिन्न विवरों का बहाव दर्शाया गया है। सभी विवर नासिका कोष्ठ में अपना तरल विसर्जित करते हैं।

हुई है जो हवा के झोंकों से झूम रही है। सूक्ष्म बालों की यह गति विवर तरल को बुहार कर छिद्र (ऑस्टिया) की ओर भेजती रहती है। विवरशोथ की स्थिति में सीलिया मंद पड़ जाते हैं जिससे तरल विवर में एकत्रित होकर समस्या को और अधिक गहरी बना देता है।

विभिन्न विवर अलग-अलग मंजिलों पर ही अवस्थित नहीं हैं, बल्कि वहां भी उनकी स्थिति भिन्न है (चित्र 20. व 21.)। अतः जहां ललाट विवर सबसे ऊपरी मंजिल के अलग कमरे में स्थित है, वहीं झर्झरिका मध्य के बीच वाले कमरे तथा जातूक भूमितल पिछवाड़े के आंगन मे स्थित है। ललाट विवर नाम इसलिए पड़ा है कि चूंकि यह सबसे ऊपरी मंजिल में सामने की ओर है। यह नाक से पिछले भाग के ऊपर स्थित है तथा भौंहों की ऊंचाई पर है। जैसा कि ऊपर बताया गया है विवर अकेले नहीं बल्कि जोड़े के रूप में होते हैं और उन दोनों के बीच में एक पतली हड्डी द्वारा विभाजन होता है। इसके अलावा प्रत्येक विवर छोटे-छोटे प्रभागों में बंटा होता है। कभी-कभी इन प्रभागों की संख्या छह तक होती है और वे सभी अपने आप
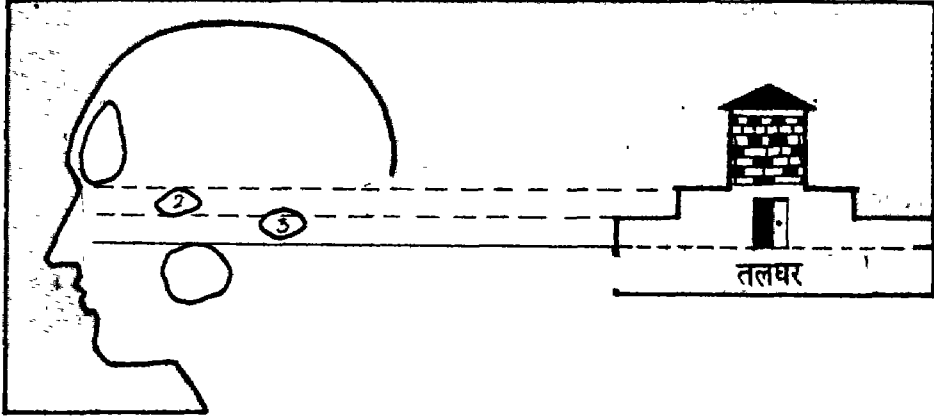
चित्र 21. ललाट विवर (1) जो दूसरे तल पर तथा झर्झरिका विवर (2) जो प्रथम तल पर है, दोनों अपना तरल पदार्थ एक नली द्वारा जो B स्तर से थोड़ी ऊंचाई पर स्थित है, निकालते हैं। जातूक विवर (3) तथा उर्ध्वहनु विवर (4) अपना तरल C स्तर के समीप स्थित नली से बाहर निकालते हैं।

में स्वतंत्र हैं। इसे यों भी समझा जा सकता है कि सबसे ऊपरी मंजिल में छह किरायेदार हैं जिसमें से हरेक को ललाट विवर कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक की अपनी नाली होती है जिसका संबंध नाक से होता है। ललाट विवर आकार और आकृति में परिवर्तनीय होता है तथा एक ओर का विवर दूसरी तरफ वाले विवर से बड़ा होता है। कभी-कभी विवर एक ओर ही होता है और अत्यंत कम परिस्थितियों में ललाट विवर होता ही नहीं। ललाट विवर का औसत आकार 1" x 1¼" x ½" होता है। यह माप एक ओर के विवर का है। दोनों ललाट विवरों की औसत क्षमता लगभग 3-4 चाय के चम्मचों के बराबर है।

झर्झरिका विवर, जो पहली मंजिल पर स्थित है, का नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह एथमॉयड (छलनी जैसी) हड्डी के अंदर स्थित है। यह हड्डी छलनी जैसी इसलिए है क्योंकि इसमें नाक से मस्तिष्क तक जाने वाली नाड़ियों को गुजरने के लिए अनेकों छोटे-छोटे छेद हैं। ये विवर बहुत छोटे हैं, इतने छोटे कि कई व्यक्ति इन्हें विवर कहने की जगह कोशिकाएं कहना अधिक पसंद करते हैं। केवल यही विवर ऐसा है जिसे कोशिका कहा जा सकता है। कोशिकाएं या विवर उन कुछ (3-18 तक) रबड़ के गुब्बारों की भांति हैं जो एक छेददार लंबे बक्से में रखे हों और इन छेदों से होकर बाहर आई गुब्बारे की नलियों से बक्से के अंदर वाले गुब्बारे फुला दिये जायें। बाहर से देखने पर यह फूले गुब्बारों की एक लंबी इकाई दिखायी देगा परंतु प्रत्येक गुब्बारे (कोशिका) की आकृति उसमें भरी हवा तथा पड़ौसी गुब्बारों की आकृति पर निर्भर करेगी। इन कोशिकाओं की तुलना मधुमक्खी के छत्ते से भी की जा सकती है। कोशिकाओं की आकृति और आकार बिल्कुल अलग-अलग होता है।

भूमितल के पिछवाड़े वाले आंगन में स्थित जातूक विवर का नाम स्फिनॉयड (मेखाकार) हड्डी में स्थित होने के कारण पड़ा है। यह हड्डी खोपड़ी की अन्य हड्डियों के बीच फन्नी की तरह ठुकी होती है। वास्तव में इसकी आकृति एक बड़ी तितली की तरह होती है जिसके शरीर के मध्य भाग से दोनों ओर पंख जैसे विस्तार होते हैं। मध्य भाग में जातूक विवर स्थित होता है। इसका आकार 2/3''x1''x1'' होता है।

उर्ध्वहनु विवर सबसे बड़ा विवर है। यह गाल की हड्डी में स्थित होता है। यदि आप गाल की उभरी हड्डी के ठीक नीचे अपनी उंगलियां रखें तो वे इस विवर के ऊपर होंगी। प्रत्येक विवर पिरामिड की शक्ल का होता है। इसका आकार 1''x1 1/3''x1 1/3'' होता है। (आश्चर्य की बात है कि गिजा का महान पिरामिड, जिसकी इससे समानता है, 481 फि. ऊंचा तथा आधार पर 13 एकड़ क्षेत्र में फैला हुआ है और अपने इस छोटे मित्र (उर्ध्वहनु विवर) से 260 अरब गुणा बड़ा है)। ऊपरी दांतों की अधिकतर जड़ें उर्ध्वहनु विवर के अंदर हैं। अतः संक्रमित दांत द्वारा विवर में संक्रमण आसानी से हो जाता हैं। कई बार ऐसा दांत निकलने पर खाली जगह द्वारा विवर और मुख के बीच सीधा संपर्क हो जाता है।

यह तो रही विवरों की जानकारी। अब देखें कि इनमें संक्रमण कैसे हो जाता है। हम पढ़ चुके हैं कि परानासा विवरों की रचना हवा भरे गुब्बारों की तरह होती है जिनके मुंह नासिका कोष्ठ में खुलते हैं और विवर तरल को बाहर निकालते हैं। सामान्यतः द्रव का बहाव विवर से नाक के कोष्ठ में होता है, परंतु कभी-कभी नासिका कोष्ठ में दबाव बढ़ जाता है और बहाव की दिशा उलटी हो जाती है, यानी नासिका कोष्ठ का तरल विवर में प्रवेश करने लगता है। अब यदि किसी व्यक्ति को जुकाम तथा जीवाणु संक्रमण है और उसकी नाक संक्रमित पदार्थ व मवाद से भरी हुई है तो एकाएक छींकने पर उसकी नासिका में दबाव बढ़ जायेगा और कुछ संक्रमित पदार्थ विवर छिद्रों से विवर में पहुंच जायेगा। विवर तो स्वयं ही जीवाणुओं के प्रिय क्षेत्र हैं, अतः जीवाणु वहां बड़े मजे में सुरक्षित पड़े रहते हैं। उन्हें भोजन का कोई अभाव नहीं होता। उनके लिए उचित गरमाहट मौजूद रहती है। सब चिंताओं से दूर जीवाणु वहां बड़े आराम से पनपते रहते हैं।

पानी में तैरने या गोता लगाने पर भी जीवाणुओं का विवरों में प्रवेश आसान हो जाता है। इन स्थितियों में पानी अधिक दबाव से नाक में प्रवेश करता है और छिद्रों से होता हुआ विवरों तक पहुंच जाता है। फिर आगे का रास्ता तो साफ है ही।

दांतों की जड़ों का संबंध उर्ध्वहनु विवर से होता है। अतः इसमें संक्रमण दांतों से ही होता इस प्रकार के संक्रमण को उर्ध्वहनु विवरशोथ कहते हैं। ऊपर के जबड़े से दांत निकलवाने पर संक्रमण हो सकता है।

कभी-कभी बेर की आकृति के मांस के टुकड़े नाक के अंदर बन जाते हैं। इन्हें पॉलिप, या पॉलिप के नाम से पुकारते हैं। ये विवरों से बहकर आने वाले पदार्थ का मार्ग अवरुद्ध

करते हैं, जिससे तरल जमा हो जाता है। पहले बताया जा चुका है कि जहां भी तरल एकत्र होगा, वहीं पर यह जीवाणुओं द्वारा संक्रमित होकर विवरशोथ को जन्म देता है। इसी प्रकार का व्यवधान नाक की मध्यम भित्ती के टेड़े होने से भी होता है। इस स्थिति को नासिका भित्ती का टेढ़ा होना कहते हैं। नाक में ट्यूमर होने से भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

प्रायः आपने जाड़ों, या मौसम बदलते समय लोगों को जुकाम से पीड़ित होते पाया होगा। इसका भी विशेष कारण है। नाक फेफड़ों के लिए एयर कंडीशनर का काम करती है, अर्थात् वह नियंत्रित ताप वाली वायु को ही अंदर जाने देती है। अधिक जाड़ों के दिनों में वायु को गरम रखने के लिए उष्ण रक्त की काफी मात्रा नाक में जानी चाहिए। इससे नाक की झिल्ली में सूजन आ जाती है जिसमें नासा विवरों के छिद्र स्थित रहते हैं। सूजन के कारण ये द्वार बंद हो जाते हैं और विवरशोथ का रास्ता खुल जाता है। कभी-कभी सारे विवर एक साथ संक्रमित हो जाते हैं। इस स्थिति को पेनसाइनुसाइटिस कहते हैं।

संक्रमण से प्रभावित होने पर विवरों में स्थित बाल जैसे सीलिया मंद गति होकर पूरी तरह निष्क्रिय हो जाते हैं। इससे तरल बाहर निकलने की आखिरी कोशिश भी समाप्त हो जाती है। जीवाणु विवर तरल को तेजी से मवाद में बदल देते हैं। कई बार विवरों की आंतरिक झिल्ली
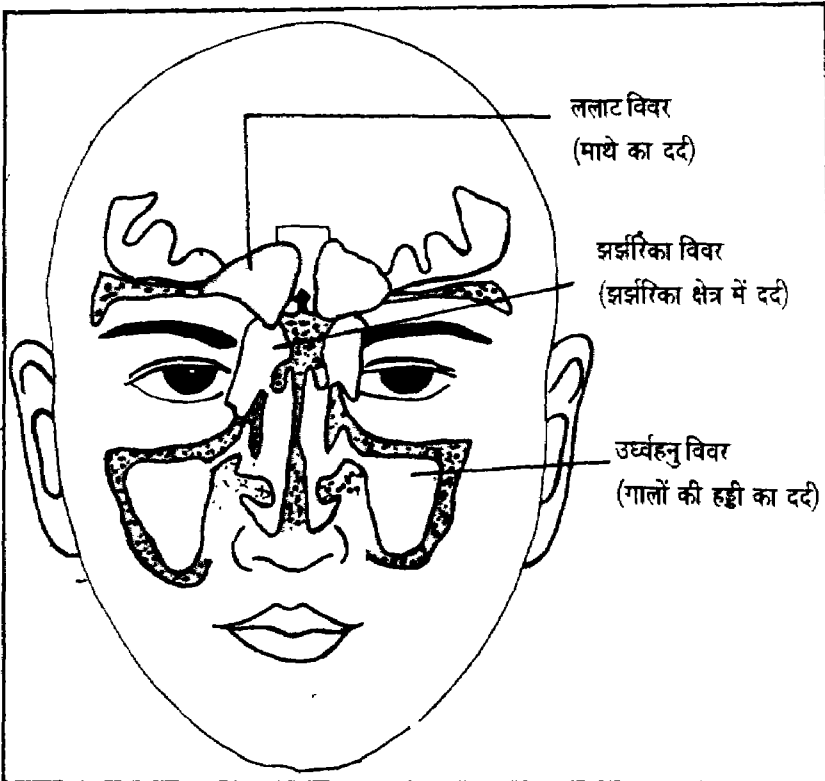
में इतनी अधिक सूजन आ जाती है कि वे इसी से पूरी तरह भर जाते हैं।

विवरशोथ के प्रमुख लक्षणों में बदबूदार श्लेष्मा का नाक से बहना तथा लगातार सिर दर्द रहना है। प्रभावित विवर पर विशेष रूप से दर्द होता है। ललाट विवरशोथ में दर्द की मात्रा माथे के मध्य में सबसे अधिक होती है। माथे को उंगली से ठकठकाने पर पूरे सिर में झनझनाहट होती है। झर्झरिका विवरशोथ में दर्द आंखों में काफी पीछे की ओर महसूस होता है। आंतरिक कैंथस के ठीक नीचे नाक के दोनों तरफ से दबाने से दर्द महसूस होता है (चित्र 22.)। जातूक संबंधी सिर दर्द खोपड़ी के मध्य में महसूस होता है। लगेगा कि दर्द कनपटी में शुरू होकर और गर्दन के पीछे व नीचे की ओर फैलकर कानों के पीछे की तरफ जा रहा हो। उर्ध्वहनु विवरशोथ का दर्द ऊपरी दांतों में स्थिर हो जाता है। गालों के ऊपर और नीचे की ओर दबाने से हल्का दर्द महसूस होता है।

जैसा की सभी प्रकार के संक्रमणों में होता है, विवरशोथ में भी बुखार हो सकता है। जांच को सुनिश्चित करने के लिए चिकित्सक चेहरे का एक्स-रे कराते हैं, जिससे विवरों और उनके भीतर के पदार्थ की जानकारी मिल सके। विवरों की वायु सामान्यतः एक्स-रे में काली परछाई
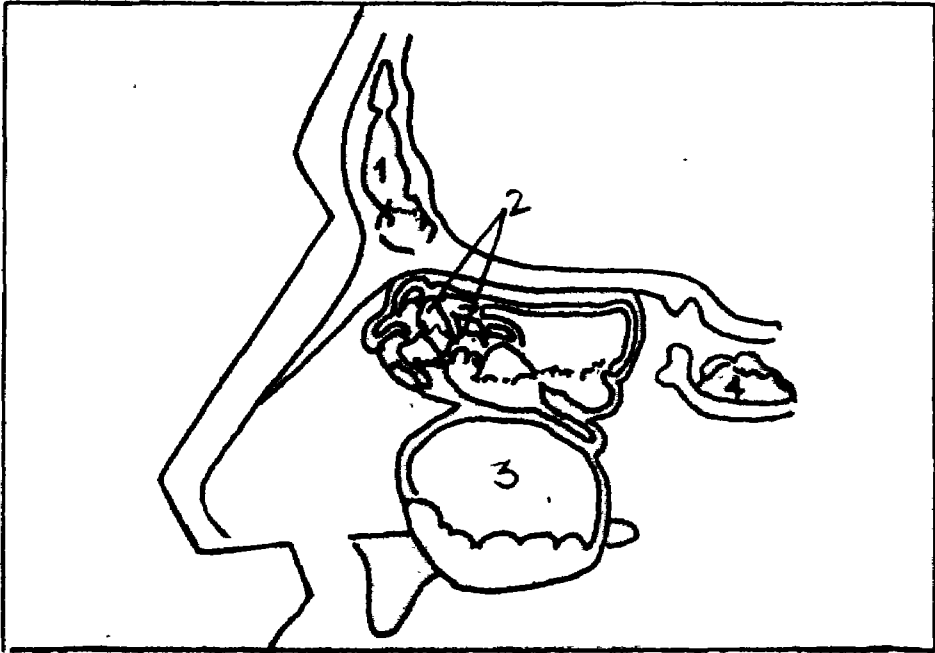
चित्र 23. यदि तरल का बहाव रुक जाये तो गाढ़ा संक्रमित पदार्थ किसी भी विवर में इकट्ठा हो जाता है। चित्र में ललाट विवर (1); झर्झरिका विवर (2); उर्ध्वहनु विवर (3); तथा जातूक विवर (4) में मवाद भरा दिखाया गया है। बहाव के रास्ते का प्रबंध तुरंत किया जाना चाहिए।

प्रस्तुत करती है, परंतु विवरशोथ में तरल व मवाद के मौजूद होने से दुग्ध-धवल परछाई प्राप्त होती है। पहले जब एक्स-रे इतना सामान्य नहीं था, चिकित्सक विवरशोथ की जांच 'ट्रान्सइलुमिनेशन' परीक्षण द्वारा करते थे। रोगी को एक अंधेरे कमरे में बिठाकर उसके विवरों को प्रकाशमान करते थे। यदि विवर खाली और स्वस्थ होते थे तो उनका प्रकाश चमकीला गुलाबी रंग का होता था। एक्स-किरणों के आविष्कार के साथ ही यह परीक्षण लुप्त हो गया है।

विवरशोथ को मामूली नहीं मानना चाहिए, क्योंकि इससे गंभीर जटिलताएं हो सकती हैं। अन्यों के मुकाबले ललाट तथा झर्झरिका विवर आंखों के काफी समीप होते हैं, जिससे संक्रमण आंखों तक पहुंचकर तीव्र वेदना, सूजन, लालिमी तथा अंधापन तक पैदा कर सकता है। उर्ध्वहनु विवर के अतिरिक्त सभी विवर मस्तिष्क के पास होते हैं जिससे वहां संक्रमण फैलकर मस्तिष्क का फोड़ा या मस्तकावरणशोथ जैसे रोग हो सकते हैं। मस्तिष्क की हड्डियों में भी संक्रमण हो सकता है जिसे ऑस्टियोमाइलाइटिस कहते हैं। कभी-कभी मवाद का दबाव विवर में इतना बढ़ जाता है कि धीरे-धीरे हड्डी गल जाती है और एक सुराख द्वारा मवाद चेहरे से बाहर निकलने लगता है। ऐसा प्रायः ललाट विवरशोथ के मामले में होता है और सुराख आंख की कोरों के निकट बन जाते हैं।

बच्चो में विवरशोथ कम होता है क्योंकि उनके विवर पूरी तरह विकसित नहीं होते। परंतु यह रोग उनमें भी हो सकता है और इससे पैदा होने वाली जटिलताएं भी।

उपचार द्वारा तीव्र विवरशोथ के अधिकतर रोगी संतोषजनक रूप से ठीक हो जाते हैं। एकाएक उत्पन्न होने वाला विवरशोथ तीव्र विवरशोथ कहलाता है। जब यह अधिक समय का हो जाता है तो इसे चिरकालिक विवरशोथ कहते हैं। तीव्र विवरशोथ के रोगी को गर्म और हवादार कमरे में रहना चाहिए। नाक खोलने वाली दवा से बहाव शुरू होकर नलियां खुल जाती हैं। ऐफिड्रीन का (1 से 2%) घोल नाक खोलने वाली एक उत्तम औषधि है। कोकेन तथा एड्रीनालिन भी बंद नलियों को खोलती हैं, परंतु वे सूक्ष्म बालों या सीलिया को अपंग बना देती हैं। अतः उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। चिकित्सक इन्हें आजकल प्रयोग नहीं करते। गर्म भाप में सांस लेने से सूजी हुई श्लेष्मा सामान्य हो जाती है। कुछ चिकित्सक इसमें मेंथाल मिलाने की सलाह देते हैं। मेंथाल में अपना निजी कोई प्रभाव नहीं होता, वह केवल भाप को सुगंधित कर सकता है। इससे थोड़ा आराम का आभास अवश्य मिलता है।

वेदना व सिर दर्द दूर करने के लिए एस्पिरिन जैसी पीड़ानाशक दवाओं का सुझाव दिया जाता है। पेनिसिलीन तथा सल्फा औषधियां जीवाणुओं को नष्ट करने में सहयोगी हैं।

कभी-कभी इन उपायों से भी अपेक्षित आराम नहीं मिलता। उर्ध्वहनु विवरशोथ में प्रायः ऐसा होता है। इस स्थिति को तब चिरकालिक विवरशोथ के नाम से पुकारते हैं। चिकित्सक इसे शल्यक्रिया द्वारा ठीक करना अधिक ठीक समझते हैं। 'एन्ट्रल वाश' नामक सादा तरीका

चित्र 24. काल्डवैल-लक शल्यक्रिया में किया गया कटान।

भी अपनाया जा सकता है। यह गंदी घुड़साल धोने के समान है। हरक्यूलिस ने आगियस की अस्तबलें (जिन्हें पिछले 30 वर्षों से साफ नहीं किया गया था) एल्फियस नदी की धारा मोड़कर साफ की थीं। चिकित्सक को यह सब नहीं करना पड़ता (वैसे भी चिरकालिक उर्ध्वहनु विवरशोथ रोग उसे कम ही इलाज के लिए मिलेगा)। चिकित्सक विवर की एक दीवार में छेद करेगा और उसमें साफ पानी अंदर डालेगा। रोगी की नाक से जमें हुए मवाद की काफी मात्रा पानी के साथ बाहर आ जाएगी। इसे देखकर रोगी घबरा जाता है। विवर के पूरी तरह धुलने के बाद चिकित्सक इसमें थोड़ी एफिड्रीन डालेगा ताकि नलियां भविष्य में खुले रहें। साथ ही, वह प्रतिजैविक औषधियां भी रोगी को देगा ताकि बचे-खुचे जीवाणु भी समाप्त हो जायें।

इस उपचार से अधिकतर रोगी ठीक हो जाते हैं। ऐसा न होने पर चिकित्सकों को एक कठिन उपचार का सहारा लेना पड़ता है जिसे 'काल्डवैल-लक' शल्यक्रिया कहते हैं। इस शल्यक्रिया को न्यूयार्क के कर्णकंठ विज्ञानी जॉर्ज वाल्टर काल्डवैल (जन्म सन् 1834) तथा पेरिस के चिकित्सक हेनरी लक (जन्म सन् 1855) ने विकसित किया था। इस शल्यक्रिया में उर्ध्वहनु विवर तक मुंह के रास्ते से पहुंचा जाता है (चित्र 24.)। इसके बाद विवर अच्छी तरह धोया जाता है। इस शल्यक्रिया का एक विशेष लाभ यह है कि रोगी के विवर की जांच चिकित्सक द्वारा दांतों के ऊपर कटान लगाकर स्वयं की जा सकती है। वह अस्वस्थ अथवा खराब श्लेष्मा को भी खुरचकर निकाल देता है ताकि रोग का कोई चिह्न बाकी न रहे।

शब्दावली

आगियस : यूनानी किंवदंतियों में वर्णित ऐलिस का राजा जो अपनी गंदी अस्तबलों के लिए प्रसिद्ध है। हरक्यूलिस के बारह कार्यों में से एक इसे स्वच्छ करना था। इसके लिए उसने एल्फियस नदी का बहाव अस्तबलों में मोड़ दिया था। आगियस द्वारा इसके पारिश्रमिक को देने से मना करने पर हरक्यूलिस ने उसका वध कर शासन उसके पुत्र को सौंपा था।

ऑस्टियम : मुख-छिद्र।

इन्फ्लेमेशन (प्रदाह) : जीवित ऊतकों द्वारा उत्तेजक कणों व जीवाणुओं से बचाव की प्रतिक्रिया। इसमें रक्त नलिकाओं का फैलाव होता है और रक्त के श्वेत कण रक्तनलिकाओं से बाहर आकर ऊतक में प्रवेश करते हैं। प्रदाह के प्रमुख लक्षण ताप, लालिमा, दर्द तथा सूजन हैं। प्रदाह का सरल उदाहरण गाल पर थप्पड़ मारना है। इसमें गाल गर्म होकर लाल होता है और दर्द करता है।

एंजाइना (हृदयशूल) : हृदय मांसपेशियों में अपर्याप्त रक्त पहुंचने से पैदा हुआ सीने का दर्द। चूंकि एंजाइना का संबंध हृदय से है, अतः दर्द सीने के बाईं ओर होता है। साथ ही विशेष रूप से यह बाईं भुजा और जबड़े में भी होता है। यह अन्यत्र स्थान में होने वाले दर्द का चिरसम्मत उदाहरण है।

एड्रिनालिन : यह अधिवृक्क ग्रंथि (एड्रिनल ग्लैंड) द्वारा निर्मित दो हार्मोनो में से एक है। यह रक्त नलिकाओं को संकुचित कर संकुलता से छुटकारा दिलाता है। इस प्रकार यह विवरशोथ में जकड़न को दूर करने में सहायक है।

एपिथीलियम : जंतुओं में अंगों का आवरण। इसका कार्य सुरक्षा देना है।

एफिड्रीन : प्राकृतिक औषधि जो एफिड्रा पौधे से मिलती है। ये पौधे उत्तर भारत और चीन में बहुलता से मिलते हैं। यह संकुलता निवारक है।

केरियस टीथ (क्षरणग्रस्त दांत) : दांत जिसमें टूट-फूट आरंभ हो जाये। इन दांतों को ऊपर लगे काले धब्बों से पहचाना जा सकता है।

कैंथस : वह स्थान जहां ऊपर और नीचे की पलकें मिलती हैं। प्रत्येक आंख में दो कैंथाई होते हैं —भीतरी और वाहरी।

कोकीन : व्यसनकारी औषधि जो पेरु में उगने वाले पौधे 'ऐरिथ्रोजाइलॉन कोका' से मिलती है। बहुत पहले इस औषधि को संकुलता निवारण के लिए प्रयोग किया जाता था।

ट्राइजेमिनल नर्व : मस्तिष्क से निकलने वाली 12 नाड़ियों में से एक। यह खोपड़ी के आधार में स्थित छेदों से निकलती है। ट्राइजेमिनल ऐसी पांचवी नाड़ी है। मस्तिष्क से निकलने वाली बारहों नाड़ियों का सम्मिलित नाम क्रेनियल नाड़ियां है।

डाइयूरेटिक (मूत्रल) : अधिक मूत्र उत्पन्न करने वाली औषधि, जैसे लेसिक्स।

डिकंजेस्टिव ड्राप्स : नाक खोलने वाली औषधि, जैसे एफिड्रिन।

म्यूकोसा (श्लेष्मक) : झिल्ली जो श्लेष्मा छोड़ती है। जर्मन शरीर रचना विज्ञानी कॉनार्ड विक्टर स्नाइडर ने सन् 1649 में नाक की श्लेष्मक का अध्ययन किया और बताया कि नाक की श्लेष्मा मस्तिष्क से नहीं, बल्कि इसी झिल्ली से निकलती है।

मेंथाल : सुगंधित पदार्थ जो पिपरमिंट या अन्य मिंट तेलों से प्राप्त होता है।

मेनिनजाइटिस (मस्तिष्कावरणशोथ) : मस्तिष्क आवरण का प्रदाह।

रुबेला : सामान्य एवं हल्का वायरस संक्रमण जिसे जर्मन मीजल्स भी कहते हैं। यह बच्चों और नवयुवकों को अधिक प्रभावित करता है। इसका प्रभाव मां के गर्भ में स्थित बच्चे पर भी पड़ता है। इसमें शरीर पर गुलाबी चकत्ते पड़ जाते हैं। रुबेला शब्द का लेटिन में अर्थ है 'लाल'।

स्टिरॉयड ड्रग्स : लिपिड (वसा) के समान एक रसायन वर्ग। इनके चिकित्सा में अनेकों उपयोग हैं जैसे, प्रदाह को दबाना या कम करना। इनका अनुचित प्रयोग घातक है।

सल्फा ड्रग्स : सूक्ष्म जीवाणुओं को नष्ट करने वाली सफल औषधियां। इन्हें सन् 1935 में जर्मन चिकित्सक गेरहार्ड डॉमेक (1895-1964) ने खोजा। गंधक उपस्थित होने के कारण इन्हें सल्फा ड्रग्स कहते हैं। अब इनका स्थान प्रतिजैविकों ने ले लिया है।

सेंसरी इम्पलसेस : मस्तिष्क तक जाने वाली सूचना। इसके विपरीत आवेग, अर्थात् मस्तिष्क से आने वाले, मोटर आवेग कहलाते है। इनसे अंगों में गति उत्पन्न होती है।

सेलाइवरी ग्लैंड : मुख ग्रंथियां जो भोजन को निगलने और पचाने के लिए लार उत्पन्न करती हैं। तीन प्रमुख ग्रंथियों के जोड़े हैं—पेरोटिड, सबलिंगुअल तथा सबमैंडिबुलर।